अमृत राय के साहित्य में प्रगतिशील विचारों की अभिव्यक्ति के स्वरूप का मूल्यांक

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
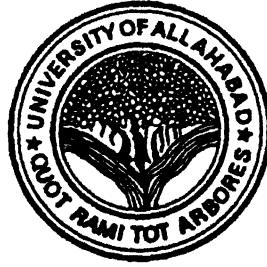
निर्देशक :
डॉ० मुश्ताक अली
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
कुमार वीरेन्द्र सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

भूमिका

''अमृत राय के साहित्य में प्रगतिशील विचारो की अभिव्यक्ति के स्वरूप का मूल्यांकन'' विषयक शोध–प्रबंध के प्रणयन के पीछे अमृत राय के बहुआयामी व्यक्तित्व के रचनात्मक अवदान के मूल्यांकन की प्रेरणा बलवती रही है। लेकिन अत्यंत क्षोभ के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी जगत् में लेखक के रूप मे अमृत राय की प्रायः उपेक्षा की जाती रही है जबकि चिन्तन और सृजन के क्षेत्र में अमृत राय की भूमिका अग्रणी रही है। अमृत राय के व्यक्तित्व–कृतित्व के संदर्भ में दो–एक शोध–प्रबंध अवश्य प्रस्तुत किए गए हैं लेकिन उनके चिन्तन और सर्जन का प्रगतिशील पक्ष प्रायः अछूता ही रहा है। इस दिशा में संपूर्ण मनोयोगपूर्वक कार्य करने की ओर या तो अध्येताओं का ध्यान नही गया या ध्यान गया भी तो दृढ़ इच्छा–शक्ति के अभाव के चलते वह पूरा नहीं हो पाया। ऐसे में यह आवश्यक था कि अमृत राय के रचना क्रम से गुजरते हुए उसमें निहित प्रगतिशील दृष्टि की आंतरिक लय का रेखांकन किया जाए। इस दिशा में मैं अग्रसर हुआ। मैंने महसूस किया कि अमृत राय की उपलब्धियाँ बहुमुखी हैं लेकिन समग्र रूप में उनका आकलन एक दुष्कर कार्य है। अतः मैंने उनके कृतित्व को प्रगतिशील चिन्तन के विशिष्ट परंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दुओं से उठाने का संकल्प किया। प्रस्तुत शोध–प्रबंध इसी संकल्प की साकार परिणति है।

पहले अध्याय में प्रगतिशीलता के सैद्धांतिक आधारों का विवेचन करते हुए अमृत राय का तत्संबंधी दृष्टिकोण निरूपित किया गया है। प्रगतिशीलता की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के संदर्भ में उसके विभिन्न मानदंडों का निरूपण किया गया है। ऐसा करते समय यह ध्यान रखा गया है कि आधुनिकता के संदर्भ में इन मानदंडों की नियति गत्यात्मक रहे। यों स्थिति–सापेक्षता तथा उपलब्ध ज्ञानराशि की अबाध परम्परा में इनमे संशोधन–परिशोधन की संभावना बनी रहती है।

दूसरे अध्याय में अमृत राय के आधुनिक–बोध और उसके प्रगतिशील पक्ष की परख की गयी है क्योंकि आधुनिक बोध को समझे बिना अमृत राय की आलोचना की पृष्ठभूमि

को समझना दुष्कर कार्य है क्योकि आधुनिकता हमारे दृष्टिकोण को आलोचनात्मक तो बनाती ही है, हमारी संवेदनाओ को तीव्र भी करती है।

तीसरे अध्याय मे अमृत राय की रचना–दृष्टि प्रस्तुत की गयी है। तत्पश्चात् उनकी कहानियो और उपन्यासो मे इसकी खोज की गयी है। तदुपरान्त यह निष्कर्ष निकालने का विनम्र प्रयास किया गया है कि अमृत राय जितने बड़े चितक है, उतने ही बड़े सर्जक भी। उनका सृजन सहज मानवीय धरातल पर हुआ है, जिसमे विचार गौण हो गया है, अनुभूति प्रबल।

चौथे अध्याय मे 'कलम का सिपाही' को जीवनी साहित्य मे एक सर्जनात्मक हस्तक्षेप के रूप मे देखने की कोशिश की गयी है, क्योकि 'कलम का सिपाही' एकमात्र ऐसी जीवनी है, जिसमे प्रेमचंद को प्रेमचंद की भाषा मे प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, प्रेमचद के जीवन को जितनी अन्तरगता के साथ चित्रित किया गया है उतनी ही तटस्थता के साथ विश्लेषित भी किया गया है।

पाँचवें अध्याय मे अमृत राय की 'सहज कहानी' सबधी अवधारणा को विवेचित करते हुए उसमे निहित प्रगतिशील दृष्टि को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। कहानी को दिग्भ्रमित होने की स्थिति से बचाने मे अमृत राय का योगदान बेहद महत्वपूर्ण है, वह भी विशेषत उस समय जब कहानी अनास्था, कुंठा, सत्रास, अजनबीपन की जद मे पड़कर दम तोड़ने लगी थी। अमृत राय द्वारा प्रतिपादित एव परवर्ती कृतित्व मे संपादित सहजता के लक्षण ने कहानीपन को पुनरूज्जीवित किया।

छठे अध्याय मे अमृत राय द्वारा अनूदित कृतियो के प्रगतिशील वैशिष्ट्य का मूल्यांकन किया गया है क्योकि अमृत राय ने अनुवाद के माध्यम से प्रगतिशीलता के वैश्वक स्वरूप की पहचान का प्रयास किया है। अमृत राय ने उपन्यास लिखा हो या संपादकीय, आलोचना की हो या अनुवाद—सभी मे एकात्मकता का सूत्र विद्यमान है, सभी मे शोषण का प्रतिकार है।

सातवें अध्याय यानी उपसहार मे यह बात मुखर हो उठी है कि विधाएँ चाहे जो

रही हो, सभी मे परिप्रेक्ष्य मार्क्सवादी चिन्तन है, जिसकी तह मे प्रगतिशीलता है लेकिन परिदृश्य भारतीय है।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध के किसी भी प्रसंग मे विचारो को लेखक पर थोपने का प्रयत्न नही किया गया है। तटस्थ दृष्टि से उपलब्ध तत्त्वो की छानबीन की गयी है। जिसमे जो प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी है, उसे बरबस तलाशने का आग्रह नही किया गया है। इस बात की हरसंभव कोशिश की गयी है कि प्रत्येक वचन या स्थापना सप्रमाण हो।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध का लेखन और प्रस्तुतीकरण मैंने हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रीडर डॉ. मुश्ताक़ अली के कुशल निर्देशन मे किया है। उनकी सटीक दृष्टि, आशीर्वाद और सत्प्रेरणा से ही यह शोध–प्रबंध समय सीमा के अंदर ही प्रसुतत करने में मैं सफल हो सका हूँ। इस दौर मे मेरे जीवन में कितनी ही विषम परिस्थितियाँ आयीं, लेकिन उनके आशीर्वाद से मैं उनसे निकलने में कामयाब रहा हूँ। मैंने उनके नज़रिए, सलाहियत और काबिलीयत का कदम–कदम पर लाभ उठाया है। इस अवसर पर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए भावी जीवन के लिए आशीर्वाद की कामना ही कर सकता हूँ।

इस मौके पर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पूज्य गुरुवर प्रो. राजेन्द्र कुमार जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ जिनके ये शब्द मेरे कानों में बराबर गूँजते रहे हैं—"ज़िन्दगी कोई क्रम नहीं बनाती। हर क्षण मूल्यवान है। यह सोचना कि पहले यह कर लूँ, फिर वह कर लूँगा, बेहद खतरनाक है।" मानसिक, आर्थिक एवं दुनियावी झंझटो ने मुझे विचलित करने की काफी कोशिशें की लेकिन गुरु प्रदत्त 'मंत्रवाक्य' ने मुझे टूटने से बचाये रखा।

इस शोध–प्रबंध के मुकम्मल होने की जितनी खुशी मुझे है, उससे भी अधिक खुशी मेरे बचपन के गुरु श्रद्धेय डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद मिश्र जी को है, जो इस कार्य को समय पर संपन्न हुआ देखना चाहते थे। कभी डाँट–फटकार से तो कभी स्नेहासिक्त आदेश से उन्होंने मुझे शोध–प्रबंध पूरा करने का बराबर प्रोत्साहन दिया। उनके प्रति मेरे हृदय में जो असीम श्रद्धा है, वह शब्दों की क्षुद्र सीमा से परे है।

इस अवसर पर मै अपने परम पूज्य बाबा श्री मूरत नारायण सिह, माँ श्रीमती पार्वती देवी, बाबूजी श्री शिवकुमार सिंह एवं परिवार के सभी आत्मीयजनो का आदरपूर्वक स्मरण करता हूँ जिन्होने मुझे सतत् प्रेरणा व आशीष देकर इस योग्य बनाया कि मैं यह शोध–कार्य संपन्न कर सका।
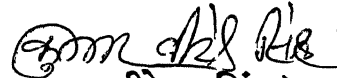
इस मौके पर अपने साथियों—प्रियम् अंकित, प्रेयस अंकित, लक्ष्मीकांत सिंह, रणवीर सिंह चौहान, पांडेय मनोज कुमार, सुरेश बहादुर सिंह, चंद्रशेखर कुमार सिंह, राजेश गुप्ता, विजय यादव, कृष्णविजय, धारवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी और अमित सिंह परिहार को कभी नहीं भूल सकता जिनसे विषय और विषयेतर प्रसंगों पर घंटों बहसें होती रही हैं जिनसे शोध–कार्य को गति देने में मदद मिली है।

मैं अपनी छोटी बहन कुमारी विभा सिंह और अपने गाँव की साहित्यिक–सांस्कृतिक संस्था 'प्रयास' के उन सभी पदाधिकारियों को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जो मुझे प्रायः पत्र लिखकर शोध कार्य पूरा करने के लिए बराबर प्रेरित करते रहे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हिन्दी विभाग के हिन्दी परिषद् पुस्तकालय; हिन्दी साहित्य सम्मेलन–प्रयाग; हिन्दुस्तानी एकेडमी–इलाहाबाद तथा शहीद जगतपति पुस्तकालय–अम्बा, औरंगाबाद (बिहार) के कर्मचारियों के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ, जिन्होंने संदर्भ पुस्तकों को देखने में मदद की।

अंत में, 'परीक्षा मंथन' के तेजस्वी संपादक श्री अनिल अग्रवाल के प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, सोच नहीं पाता क्योंकि उनकी कलात्मक अभिरुचि का ही परिणाम है कि शोध–प्रबंध इस रूप में प्रस्तुत हो सका है।

01-11-2002

(कुमार वीरेन्द्र सिंह)
शोध छात्र, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

विषय-सूची

पहला अध्याय

प्रगतिशीलता के सैद्धांतिक आधार
और
अमृत राय का तत्संबधी चिंतन

(क) प्रगतिशीलता की संक्षिप्त पृष्ठभूमि

(ख) कलात्मक मूल्य और विचारधारा का अंतस्संबंध

(ग) अनुभव और विचारधारा

'भारतेदु युग' कहने से हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के आरंभ का बोध होता है। उसके बाद 'द्विवेदी युग' आता है। लेकिन हिन्दी साहित्य के व्यक्तिवाची युगो का दौर, यदि निबंध में शुक्ल-युग, कहानी में प्रेमचंद-प्रसाद युग को छोड दें, तो काफी आगे तक नहीं जा सका। क्रमशः साहित्य के इतिहास में एक पड़ाव ऐसा आया जब युगों का नामकरण व्यक्तिवाची न होकर प्रवृत्तिवाची होने लगा। पहले व्यक्ति की पहचान से प्रवृत्ति की पहचान होती थी, लेकिन बाद में प्रवृत्ति के माध्यम से व्यक्ति को पहचानने का दौर आरंभ हुआ। यह अपने आप में ही एक प्रगतिशील बात है कि व्यक्ति के आधार पर नामकरण को नकार कर प्रवृत्ति के आधार पर साहित्य और व्यक्ति को पहचानने की शुरुआत हुई। हालांकि पहले भी प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्येतिहास का नामकरण किया गया था, जैसे- वीरगाथाकाल, भक्ति काल, रीति काल आदि, पर आधुनिक-बोध को या यों कहें कि समय और समाज के आधुनिक संरचना-बोध को समाहित करने का सार्थक प्रयास आधुनिक काल की प्रवृत्तियों में ही हुआ, तो अत्युक्ति नहीं।

प्रवृत्तिवाची काल-खंड की पहली कड़ी छायावाद है और दूसरी प्रगतिवाद। वैसे तो प्रगतिशीलता बदली हुई शक्ल में हर दौर में मौजूद रही है, लेकिन जहाँ तक आधुनिक काल में प्रगतिशीलता का प्रश्न है तो रेखा अवस्थी[1]कथन है, "प्रताप, प्रभा, सुधा, मर्यादा, युवक, जागरण, हंस आदि पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा सामाजिक क्रांति की शक्तियों से साहित्य को जोड़ने के प्रयास में यथार्थवादी रुझानों का आरंभ होता है। नजरुल इस्लाम की 'अग्निवीणा' को हिन्दी में प्रचार-प्रसार मिलने लगता है, अद्वैत वेदांत की दार्शनिकता में पगे हुए निराला 'वनबेला', 'कुकुरमुत्ता' आदि लिखने लगते हैं, सुधारवादी प्रेमचंद 'कफ़न', 'पूस की रात', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि रचनाओं में खुद की सीमा का अतिक्रमण करते हुए दिखाई देते हैं, प्रकृति-सौंदर्य के प्रेमी कवि पंत 'ग्राम्या' में धरती, खेत-खलिहान और किसानों की दुर्दशा के प्रति सकरूण यथार्थदृष्टि डालते हैं।"

ऊपर आए उद्धरण की बातें ऊपर से संयोगमात्र प्रतीत हो सकती हैं। लेकिन सच

---

1 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ – vii (भूमिका)

यह है कि जहॉ बाहर से सतह पर आकस्मिकता का आभास होता है, वहॉ वस्तुत: सदैव आतरिक, छिपे हुए नियमो का शासन चलता है। सवाल केवल इन नियमो का पता लगाने का है। रेखा अवस्थी[1] का इस संबंध मे मत है, ''आचार्य शुक्ल ने भी अपने इतिहास के 'आधुनिक काल' खंड को 'सामान्य लक्षणो और प्रवृत्तियो के वर्णन' तक ही सीमित रखा है। युगविशेष के अंतर्विरोधों की पहचान न होने के कारण ही इतिहास की वस्तुगत प्रक्रिया के विकास की पहचान होना भी असभव है। यह जानना भी मुश्किल है कि अमुक प्रकार के साहित्यिक रुझानो का प्राबल्य क्यों दिखाई देता है? क्या कारण है कि बच्चन का 'हालावाद' कोई साहित्यिक आंदोलन का रूप नहीं ले पाता, जबकि लंदन से आए हुए कुछ भारतीय मार्क्सवादी बुद्धिजीवी 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना करते हैं और प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरदार जाफरी, मजाज, जोश, आचार्य नरेंद्र देव, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय आदि उसका समर्थन करने लगते हैं? सामाजिक यथार्थ के चित्रण पर बल देने के इस व्यापक आग्रह के मूल में क्या 'विदेशी विचारधारा की प्रेरणा' मात्र थी? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए रेखा अवस्थी[2] ने पुनः कहा है, ''एंगेल्स की यह मान्यता उद्धरणीय है कि 'मानव को गतिमान करनेवाली हर चीज का उसके मस्तिष्क से होकर गुजरना अनिवार्य है, किन्तु वह चीज मानव के मस्तिष्क में कौन सी शक्ल अख्तियार करेगी, यह बहुत कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है। सन् '30 ई० के बाद सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को बल मिलता है, इसका प्रमुख कारण देश की आंतरिक परिस्थितियों का दबाव था। इसी दबाव से राजनीति में मार्क्सवादी लेनिनवादी साहित्य की मांग बढ़ती है और साहित्य में क्रांति, स्वाधीनता, वर्ग-संघर्ष, जमींदारों, पूंजीपतियों तथा साम्राज्यवादियों के प्रति आक्रोश तथा घृणा, किसानों और मजदूरों के प्रति सहानुभूति तथा भाईचारे की भावना का प्रचार-प्रसार होता है।... सन् '30 ई० के लगभग देश की परिस्थिति ऐसी थी कि साहित्य में सामाजिकता की प्रतिष्ठा आवश्यक हो गई थी और छायावादकालीन व्यक्तिवाद से साहित्य को मुक्त करने के प्रयत्न होने लगे थे।''

---

1 वही

2 वही, पृ viii (भूमिका)

उल्लेखनीय है कि "विदेशी दासता और सामती जुए के नीचे छटपटाती भारत की उत्पीड़ित जनता सन् '30 ई0 के बाद संघर्ष के जिस दौर से गुजर रही थी, उसमे प्रगतिशील बुद्धिजीवियो का संगठित होना स्वाभाविक था। स्वाधीनता और सामाजिक क्रांति की जिन मांगो के दबाव मे सन् '36 ई0 में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना की गई, सास्कृतिक और बौद्धिक स्तर पर लगभग उन्ही मांगों के ऐतिहासिक कार्यभार की पूर्ति के लिए 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की गई थी। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के पहले के सृजनात्मक साहित्य को यदि ध्यान से देखें तो पता चलता है कि सन् '30 ई0 के आस-पास किसान समस्या और स्वाधीनता का प्रश्न लगभग यथार्थ के संपूर्ण द्वंद्व के साथ अंकित करने की प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। हिन्दी के मध्यवर्गीय लेखक सहसा किसानों के प्रति इतना गहरा लगाव क्यों अनुभव करने लगे? किसानों के प्रति 'बौद्धिक सहानुभूति' अथवा 'क्रान्तिकारी एकात्मकता' का यह भाव अचानक सुसंगत रूप में क्यों व्यक्त होने लगा? जैसे इन प्रवृत्तियों के मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियों में निहित हैं, उसी तरह 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन की भावना भी उन्हीं परिस्थितियों से पैदा हुई थी।"[1]

बोलने और लिखने की आजादी की हिमायत के लिए लेखक आपस में एकजुट हों, यह भावना आकस्मिक और अकारण नहीं थी। उस दमघोटू माहौल में प्रेमचंद लेखकों के जनवादी स्वत्व की रक्षा के लिए लेखक संघ का गठन दो उद्देश्यों से करना चाहते थे (1) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए, और (2) सहकारी प्रकाशन संस्था खोलने के लिए। सन् 1934 ई0 में प्रेमचंद और रामचंद्र टंडन के बीच लेखक संघ बनाने के सवाल पर विवाद उठ खड़ा हुआ। रामचंद्र टंडन लेखकों के स्वत्व तथा प्रकाशकों के शोषण से लेखक की रक्षा के लिए लेखकों का संगठन बनाने की बात कर रहे थे। प्रेमचंद प्रकाशकों के विरूद्ध ट्रेड यूनियन आधार पर लेखक संगठन खड़ा करने की बात से मतभेद रखते थे। उनका कहना था कि बुनियादी सवाल स्वत्व की रक्षा और 'विशाल सहकारी प्रकाशन

1 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानातर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ.–1

संस्था' खोलने का है। इस बात को लेकर इतना बतगड़ बना कि अंत मे लेखक सघ की योजना धरी रह गई।[1]

इधर प्रेमचंद के नेतृत्व मे भारत के लेखको को संगठित करने, भारतीय भाषाओं की एकता और पारस्परिकता की दिशा मे बढने के प्रयत्न आदि हो रहे थे, उधर सोवियत संघ में मैक्सिम गोर्की के नेतृत्व में सन् 1934 ई0 में सोवियत लेखक संघ का गठन हुआ। सोवियत लेखक संघ के अधिवेशन के अवसर पर रोमां रोलां, आंद्रे जीद, हेनरी बारबूज, जार्ज बर्नार्ड शा आदि ने बंधुत्वपूर्ण बधाइयाँ और समर्थन के संदेश भेजे। लेखकों को संगठित करने का ऐसा ही एक व्यापक प्रयत्न जुलाई 1935 ई0 में हेनरी बारबूज के नेतृत्व में पेरिस में हुआ। 'संस्कृति की रक्षा के लिए विश्व लेखक अधिवेशन' (वर्ल्ड कांग्रेस आफ राइटर्स फार दि डिफेंस आफ कल्चर) जुलाई महीने में पेरिस में बुलाया गया। इस अधिवेशन के संयोजकों में मैक्सिम गोर्की, रोमा रोलां, आंद्रे मालरो, टामस मान, वाल्डे फ्रेंक जैसे विश्वविख्यात साहित्यकार थे।[2] सज्जाद जहीर[3] के विवरण से मालूम होता है कि इस अधिवेशन ने फ़ासिज्म के खिलाफ तथा उत्पीड़ित राष्ट्र के शोषित जनगण के समर्थन में एवं विचार स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए लेखकों की आवाज बुलंद की। इस अधिवेशन में सारी दुनिया के प्रगतिशील लेखकों की एक स्थाई समिति चुन ली गई जिसके अध्यक्ष अंगरेजी के कथाकार ई0एम0 फोर्स्टर बनाए गए और इसका केंद्रीय कार्यालय पेरिस में स्थापित कर दिया गया।[4]

साम्राज्यवाद और फासिज्म के विरूद्ध लेखकों के स्वत्व की रक्षा के लिए सारी दुनिया के पैमाने पर संगठित कोशिशें आरंभ हुईं। रेखा अवस्थी[5] ने लिखा है, "सन् 1935 ई0 में ही लंदन प्रवासी भारतीयों में से कुछ समाजवादी विचारधारा के बुद्धिजीवियों ने लंदन

---

1. वही, पृ –6
2 वही, पृ – 7
3 'हंस', जनवरी 1948 ई0,'वे दिन जो बीत चुके हैं'
4 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानातर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ.–7
5 वही, पृ – 7–8

मे एक चीनी रेस्त्रां के तहखाने मे अपनी बैठक की और 'भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ' (इंडियन प्रोग्रैसिव राइटर्स एसोसिएशन) की स्थापना करने तथा उसे 'सस्कृति की रक्षा के लिए विश्व लेखक अधिवेशन' से अंगीभूत कराने का निश्चय किया। इस बैठक को बुलाने तथा बैठक में लिए गए निर्णय को कार्यान्वित करने का दायित्व सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनंद को सौंपा गया था। मुल्कराज आनंद अध्यक्ष चुने गए और सज्जाद जहीर सेक्रेटरी। उसी बैठक में एक घोषणापत्र तैयार किया गया। घोषणापत्र की प्रतियां हिन्दुस्तान के सभी प्रमुख लेखकों और सपादको के पास भेजी गईं। मुंशी प्रेमचंद इन गतिविधियों को बहुत नजदीक से देख रहे थे, अपनी पूरी हमदर्दी दे रहे थे और 'हंस' के माध्यम से इस लेखक संघ के उद्देश्यों को प्रचारित कर रहे थे। उन्होने जनवरी 1936 ई0 के 'हंस' में लंदन में बने प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणापत्र का सारांश प्रकाशित किया।"

प्रेमचंद इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। वे 'साहित्य में नवयुग' लाने वाले हर प्रयत्न को एक दूसरे से जोड़ना चाहते थे। 'हंस' संगठनकर्ता का काम कर रहा था। उन्होंने लंदन के उस प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन का घोषणापत्र तो प्रकाशित किया ही, इसके साथ-साथ अपनी टिप्पणी भी लिखी : "हमें यह जानकर सच्चा आनंद हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों में भी साहित्य में एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गई है। लंदन में दि इंडियन प्रोग्रैसिव राइटर्स ऐसोसिएशन की इस उद्देश्य से बुनियाद डाली गई है और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने इस नए मार्ग पर जमी रही तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा।"[1]

सन् 1936 ई0 के जनवरी महीने में हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग का सालाना जलसा हो रहा था। प्रेमचंद इस जलसे में शरीक हुए। यहीं उनकी मुलाकात फ़िराक़, अहमदअली, दयानारायण निगम और सज्जाद जहीर से हुई। प्रगतिशील लेखक संघ को सारे हिन्दुस्तान में व्यापक पैमाने पर संगठित करने के बारे में बातें हुई। दो दिनों बाद सज्जाद जहीर के

1 'हस', जनवरी, सन् 1936 ई0

मकान पर सबके इकट्ठे मिलने का प्रोग्राम तय हुआ। मौलवी अब्दुल हक और जोश मलीहाबादी भी मौजूद थे।[1] अमृत राय[2] के अनुसार "मुंशी प्रेमचद का मन उमग से भरा हुआ था और संघ के ड्राफ्ट मैनिफेस्टो पर दस्तखत करते हुए मुंशी जी ने हँस कर कहा - 'मैं तो ठहरा बुड्ढा आदमी और तुम लोग हो कि सरपट भाग रहे हो। मैं कहाँ दौड़ सकता हूँ तुम्हारे साथ, मेरा तो घुटना-वुटना फूट जायेगा।'

इस बात की पुष्टि करते हुए शिवदान सिंह चौहान[3] ने लिखा है, "प्रगतिशील लेखकों का प्रथम घोषणा-पत्र कुछ युवक लेखकों द्वारा सन् 1935 ई0 में लंदन में तैयार किया गया। उसी वर्ष दिसंबर के अंत में इलाहाबाद में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का गठन किया गया और उस ऐतिहासिक दस्तावेज पर प्रेमचंद, फ़िराक़, निराला, पंत जैसे प्रसिद्ध हिन्दी और उर्दू के लेखकों ने हस्ताक्षर किए। घोषणा पत्र ने भारतीय समाज में हो रहे महान परिवर्तनों पर प्रकाश डाला और लेखकों से आग्रह किया कि वे रहस्यवाद और झूठी आध्यात्मिकता या पतनशील अंधविश्वासों और विचारों में शरण न खोजकर इन क्रांतिकारी परिवर्तनों को अभिव्यक्ति प्रदान करें। उस सबको, जो निष्क्रियता, उदासीनता, पलायनवाद या अंधविश्वासों को जन्म देता था, प्रतिक्रियावादी करार दिया गया और उस सबको जो बौद्धिकता की भावना, साहस व प्राचीन मान्यताओं को तर्क के आधार पर परीक्षित और विश्लेषित करने की भावना पैदा करे प्रगतिशील स्वीकार किया गया।" इस बात का उल्लेख शिवदान सिंह चौहान[4] ने विशाल भारत में भी कुछ यों किया है, "प्रगतिशील शक्तियों का यह दल वह 'सामूहिक' दार्शनिक है, जो न केवल संसार को स्पष्ट करता है, बल्कि उसे परिवर्तित करने में भी अविरत लगा रहता है। उसे एक सूखे-झुलसे बाड़ा की रक्षा नहीं करनी है, बल्कि उसे उखाड़ फेंकने के बाद उसमें नई पौध लगाना है। अतः

---

1 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ. – 8–9

2. अमृत राय, 'कलम का सिपाही', प्रथम संस्करण, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 610

3 शिवदान सिंह चौहान, 'आलोचना', अप्रैल–जून–1970 ई0, हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धो के बीच

4 शिवदान सिंह चौहान, 'विशाल भारत', मार्च–1937 ई0, 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता'

वह अधिक क्रियाशील है। उसमे नया जोश है, नई स्फूर्ति है, नई ताकत है।''

दूसरी तरफ नागपुर में 'भारतीय साहित्य परिषद' का अधिवेशन सन् 1936 ई0 मे हुआ। रेखा अवस्थी[1] के अनुसार, ''उस अधिवेशन मे प्रेमचंद, नरेन्द्रदेव, मौलवी अब्दुल हक, पं0 नेहरू और अख्तर हुसैन रायपुरी के हस्ताक्षरों से एक पर्चा बांटा गया। इस पर्चे में साहित्यिक गतिविधियों को प्रगतिशील दिशा की ओर मोडने की अपील की गई थी।''

सन् 1934 ई0 के जून महीने से हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी चूँकि गैर कानूनी घोषित कर दी गई थी[2] इसलिए, सन् 1936 ई0 में विभिन्न जन संगठनों के माध्यम से पार्टी ने जनसंपर्क कायम करने, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का प्रचार करने, सुधारवादी नेतृत्व के विरूद्ध स्वाधीनता संघर्ष के अंदर विचारधारात्मक लड़ाई तेज करने और लेखकों, बुद्धिजीवियों, छात्रों तथा किसानों के मोर्चे पर अपना असर बढ़ाने के लिए अलग-अलग किस्म के खुले संगठन बनाने की योजना तैयार की। राम मनोहर लोहिया[3] के अनुसार इन संगठनों में ही लेखकों का भी एक संगठन था- जिसे संचालित करने की जिम्मेदारी सज्जाद जहीर को सौंपी गई।

लंदन से लौटे हुए जिन हिन्दुस्तानियों की मार्फत प्रगतिशील लेखक संघ की नींव सज्जाद जहीर डालना चाहते थे, उनके बारे में उनका खुद का कहना है, ''इन दोस्तों में अक्सर वे नौजवान थे जो हमसे पहले हिन्दुस्तान आ चुके थे और जिन्हें हम अदीब नहीं तो तरक्कीपसंद की हैसियत से अपना हमख्याल और हमदर्द समझते थे।''[4]

अभिप्राय यह कि प्रगतिशील बुद्धिजीवियो के द्वारा प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन

---

1. रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानातर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ –10
2. रजनी पामदत्त, 'भारत · वर्तमान और भावी', प्रथम संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, सन् 1956 ई0, पृ. 221
3. राममनोहर लोहिया, 'समाजवादी आदोलन का इतिहास', प्रथम सस्करण–सन् 1969 ई0, हैदराबाद, पृ –19
4. हसराज रहबर, 'प्रगतिवाद · पुनर्मूल्याकन', प्रथम सस्करण, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1966 ई0, पृ 25 पर सज्जाद जहीर की उर्दू पुस्तक 'रोशनाई' से उद्धत

और सगठन चलाने का काम आरंभ हुआ। ऐसे लोग स्वयं साहित्यकार नही थे। हंसराज रहबर[1] ने उन लोगो के नामो और कार्यो का उल्लेख किया है- (1) डाक्टर अशरफ, जो अलीगढ मुस्लिम युनिवर्सिटी में इतिहास के प्रोफेसर थे (2) डॉ0 महमूद जफर, अमृतसर के एक कॉलेज मे वाइस प्रिंसिपल थे और उनकी पत्नी डॉ0 रशीद जहां (3) प्रोफेसर हीरेन मुकर्जी जो आक्सफोर्ड से बैरिस्टरी की डिग्री लेकर आए थे और कलकत्ता में बैरिस्टरी कर रहे थे (4) डॉ0 युसूफ हुसैन खां, जिन्होंने भक्ति और सूफी धर्मांदोलन पर पेरिस से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की थी और (5) हठी सिंह, जिनका बाद में पं0 नेहरू की बहन कृष्णा से विवाह हुआ और जो आक्सफोर्ड से शिक्षा प्राप्त कर भारत लौटे थे।

अतएव यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि इन ऊंचे तबके के पढ़े-लिखे शरीफों और बुद्धिजीवियों के संपर्क से स्वाभाविक था कि सज्जाद जहीर को युनिवर्सिटी के प्रोफेसरों और विद्यार्थियों का सहयोग प्राप्त होता। इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ चलाने के लिए जो सहयोगी मिले उनमें अहमद अली फ़िराक़ गोरखपुरी, डाक्टर सैयद एजाज हुसैन, प्रोफेसर एहतेशाम हुसैन, वकार अजीम, पंत, शिवदान सिंह चौहान और नरेन्द्र शर्मा उल्लेखनीय है। इस बात की पुष्टि शिवदान सिंह चौहान[2] के इस वक्तव्य से भी होती है, "इलाहाबाद की पार्टी ब्रांच में इलाहाबाद में प्र. ले. सं. शुरू करने का फैसला हुआ। मुझे इलाहाबाद प्र. ले. सं. का सचिव चुना गया, मेरे और सज्जाद जहीर के ही माध्यम से पार्टी प्र. ले. सं. से संबंध रखती थी। इलाहाबाद प्र. ले. सं. के कार्यक्रमों एवं बैठकों में हिन्दी उर्दू के अनेक लेखक-फ़िराक़, ऐजाज़ हुसैन, एहतेशाम हुसैन, भगवतीचरण वर्मा, शमशेर, नरेन्द्र शर्मा व शुरू-शुरू में डॉ. रामकुमार वर्मा भी शामिल होते थे।"

'रोशनाई' नामक अपनी पुस्तक में सज्जाद जहीर[3] प्रगतिशील लेखक संघ बनाने के

---

1 हसराज रहबर, 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्याकन', प्रथम संस्करण, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1966 ई0, पृ – 25

2 शिवदान सिह चौहान, 'अभिप्राय'–24-25, 'सिहावलोकन'

3 हसराज रहबर, 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्याकन', प्रथम सस्करण, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1966 ई0, पृ –26–27 पर सज्जाद जहीर की उर्दू पुस्तक 'रोशनाई' से उद्धत

उद्देश्यो पर रोशनी डालते हुए लिखते हैं,''जब हमने प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन की ओर पग उठाया तो कुछ बाते विशेष रूप से हमारे सम्मुख थी। पहली तो यह कि प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन का रुख देश की जनता और मजदूरों, किसानों और मध्यम वर्ग की ओर होना चाहिए। उनको लूटने वालों और उन पर अत्याचार करने वालो का घोर विरोध करना, अपनी साहित्यिक रचनाओ से जनता मे चेतना, गति, क्रियाशीलता और एकता उत्पन्न करना और उन तमाम अवशेषो और प्रवृत्तियो का विरोध करना जो जड़ता, प्रतिक्रिया, निरूत्साह उत्पन्न करती हैं हमारा मुख्य कर्तव्य ठहरा। ...हम चाहते थे कि प्रगतिशील बुद्धिजीवी मजदूरों, किसानों, दरिद्र और पीड़ित जनता से मिलें, उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन का अंग बनें। उनके जलसे और जलूसो में और उन्हें अपने जलूसों और कांफ्रेंसों में बुलाएँ। इसलिए हम अपने संगठन में इस बात पर अधिक जोर देना चाहते थे कि बुद्धिजीवियों के लिए साहित्य रचना के साथ-साथ जन-जीवन के साथ अधिक से अधिक संपर्क स्थापित करना आवश्यक है बल्कि बिना इसके नए साहित्य की रचना हो ही नहीं सकती। इसलिए हम चाहते थे कि हमारे संघ की शाखाएँ एकांतप्रिय विद्वानों की टोलियां न हों, बल्कि उनमें हरकत भी हो। साहित्यिक गोष्ठियों में दूसरे लोग भी आएं। लेखकों की रचनाओं पर खुली बहसें हों। लेखक और कवि साधारण लोगों से मिलते-जुलते रहें। उनमें घुले रहें, उनसे सीखें और उन्हें सिखाएं। हमारा संघ लेखकों का संगठन होते हुए और साहित्य रचना पर अधिक से अधिक ध्यान देते हुए भी 'अंजुमने-तरक्की-ए उर्दू' अथवा 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' न बन जाए, गतिमान और सजीव संस्था बने, जिसका जनता से सीधा और स्थाई संपर्क हो।''

रेखा अवस्थी[1] की सूचनानुसार, ''सन् 1936 ई0 के अप्रैल महीने में कांग्रेस अधिवेशन लखनऊ में हुआ और उसी के समानांतर प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के लिए पहला प्रगतिशील लेखक सम्मेलन आयोजित हुआ। कांग्रेस अधिवेशन के सभापति पं. नेहरू चुने गए और प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अध्यक्ष प्रेमचंद बनाए गए। उसी

1 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानातर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ. – 14–15

समय लखनऊ मे ही अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना हुई और उसके अध्यक्ष प्रो एन.जी. रंगा बनाए गए तथा स्वामी सहजानंद सरस्वती महासचिव नियुक्त किए गए। गांधीवाद से मोहभंग और समाजवादी विचारधारा के प्रसार और उसके प्रति उत्साह के वातावरण में हिंदी और उर्दू के साहित्यकारों, बोलियो और प्रादेशिक भाषाओं के रचनाकारों, पत्रकारो और बुद्धिजीवियों ने बहुत बड़ी संख्या मे लखनऊ के इस पहले प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का स्वागत किया।"

बकौल रेखा अवस्थी[1], "प्रगतिशील लेखक संघ के इस पहले सम्मेलन (9 और 10 अप्रैल, सन् 1936 ई0) में प्रेमचंद का अध्यक्षीय भाषण ऐतिहासिक था; इस दृष्टि से कि आदर्शवाद की सीमाओं के अंदर यथार्थवाद का जो रूप विकसित हो रहा था वह अब छलांग लगाकर सामाजिक यथार्थवाद की विचार प्रणाली के रूप में उभर कर सामने आया।"

अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद[2] ने कहा, "साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गयी हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है।" इसी भाषण में उन्होंने आगे कहा, "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है- उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सच्चाई है। जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो- जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी

---

1. वही, पृ. – 15
2 प्रेमचद, 'साहित्य का उद्देश्य'–हस प्रकाशन, इलाहाबाद, सस्करण-अक्टूबर–1988 ई0, पृ. 9–26

पैदा करे, सुलाये नही क्योकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" प्रगतिशील लेखक सघ के इस मच से प्रेमचद[1] ने कलाकारो–रचनाकारो का आह्वान किया, "हमे सुदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। . कलाकार की दृष्टि अभी इतनी व्यापक नही कि जीवन संग्राम मे सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता मे भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित वह स्वीकार नही करता। उसके लिए सौन्दर्य सुंदर स्त्री में है- उस बच्चों वाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होठों, कपोलों और भौहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है, उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ?" प्रेमचंद[2] कहते हैं, "यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होंठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाइये हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।"

इस प्रकार साहित्यिक रुढ़िवाद, व्यक्तिवाद, कुंठित सौंदर्य दृष्टि आदि पर प्रहार और साहित्यकारों से क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म तथा सामाजिक यथार्थवाद की तरफ बढ़ने वाली साहित्यिक रुचि की माँग-प्रेमचंद के अध्यक्षीय भाषण का यही सार था। प्रगतिशील लेखक सम्मेलन द्वारा पास किए गए घोषणापत्र पर प्रेमचंद के इस भाषण का प्रभाव देखा जा सकता है। घोषणापत्र[3] में प्र.ले.सं. के उद्देश्य भी साफ तौर पर परिभाषित किए गये हैं—

1. भारत के तमाम प्रगतिशील लेखकों की संस्थाएं संगठित करना और साहित्य

---

1. वही, पृ 20–21
2 वही, पृ – 21
3 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ. – 16–17 पर उद्घृत 'घोषणापत्र'

छापकर अपने उद्देश्यो का प्रचार करना।

2 प्रगतिशील लेखको और अनुवादको को प्रोत्साहित करना और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो के विरूद्ध संघर्ष करके देशवासियो के स्वाधीनता संग्राम को आगे बढ़ाना।

3 प्रगतिशील लेखको की सहायता करना।

4 स्वतंत्रता और स्वतंत्र विचार की रक्षा करना।

मई, सन् 1936 ई0 के हंस में प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के लिए 'हंस' को सौंपने की बात प्रेमचंद[1] ने लिखी। प्रेमचंद का दृष्टिकोण क्या था- इसका पता अहमद अली[2] के निबंध से भी चलता है- प्रेमचद यहॉ तक मानते थे कि नई पीढ़ी के लोगों पर प्रगतिशील लेखक संघ के द्वारा 'दृढ़ साहित्यिक आंदोलन चलाने का भार आ पड़ा था' और इस 'आंदोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस एसोसिएशन का आरंभ कर रहे हैं।'

लेकिन इसके दूसरे पहलू की ओर संकेत करते हुए शिवदान सिंह चौहान[3] ने लिखा है, "अप्रैल 1936 ई0 में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन जब प्रेमचंद की अध्यक्षता में संपन्न हुआ तो प्रेमचंद को 'घृणा के प्रचारक' कहकर उनकी निन्दा करते हुए अनेक लेख हिन्दी पत्रिकाओं में छपे जिनमें उनकी कहानियों और उपन्यासों से दृष्टांत देकर यह सिद्ध किया गया था कि कैसे प्रेमचंद ब्राह्मणों के पावन आधिपत्य को चुनौती देने वाले नीची जातियों के पात्रों को जान-बूझकर चुनते हैं और ब्राह्मण पात्रों को भ्रष्टाचारी, निर्दयी व अंधविश्वासी रूप में चित्रित करते हैं।"

---

1. प्रेमचद, 'हस' – मई–1936 ई0
2 अहमद अली,'हस' (प्रेमचद स्मृति अक), 'प्रगतिशील लेखक सघ का लखनऊ अधिवेशन और मुंशी जी'
3 शिवदान सिह चौहान, 'आलोचना', अप्रैल–जून–1970 ई0, 'हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव' दो महायुद्धो के बीच

बताने कि जरूरत नही कि प्रगतिशील साहित्यिक आदोलन का सगठन के स्तर पर आरंभ किस तरह हुआ। लेकिन जनेश्वर वर्मा[1] का मानना है कि, ''प्रगतिशील आदोलन का आरभ सन् 1936 ई0 से माना जाना गलत है। प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया नही, बल्कि उसके समानातर चलने वाली साहित्यधारा है। प्रगतिवाद छायावाद के जन्मकाल से ही उसके साथ-साथ विकासशील रहा है। रूस की समाजवादी क्राति और भारतीय राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव स्वरूप सन् 1918 ई0 से भारतीय जनजीवन मे भी आत्मविश्वास, वर्गचेतना, मानवतावाद और जनजागृति की लहर आई, प्रगतिवाद उसी की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। अतः प्रगतिवाद का आरंभ सन् 1918 ई0 से मानना चाहिए।'' आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को असुविधा न हो इसलिए वह इस मान्यता को स्थापित करने के उद्देश्य से कहते हैं, ''यह ठीक है कि आरंभ मे प्रगतिवादी धारा बहुत निर्बल थी परंतु जैसे-जैसे देश मे राजनीतिक चेतना का विकास होता गया और समाजवादी आंदोलन शक्ति संचय करता गया वैसे ही प्रगतिवादी धारा भी प्रबल होती गई और सन् 1936 ई0 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ उसने छायावाद पर अपनी विजय की घोषणा कर दी।''[2] शिवदान सिंह चौहान[3] ने भी घोषणा की थी, ''प्रगतिशील साहित्यिकों का यह पहला कर्तव्य होगा कि वे नौजवान लेखकों के सामने समस्त प्रगतिशील क्षेत्रो को रखता जाय और रहस्यावाद या छायावाद की नई भर्ती को हमेशा के लिए बन्द कर दे।''

रेखा अवस्थी[4] की मान्यता है, ''जनेश्वर वर्मा की मान्यता के पीछे यांत्रिक ढंग से समाजवादी क्रांति के प्रभावो को हिन्दी मे देखने का आग्रह है। वह समझते हैं कि सन् 1917 ई0 मे अगर रूस मे क्रांति हुई तो फौरन उसी साल हिन्दी में प्रगतिवाद शुरू

---

1 जनेश्वर वर्मा, 'हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना', ग्रथम, कानपुर, प्रथम सस्करण, सन् 1976ई0, पृ - 305-6

2 वही, पृ - 306

3 'विशाल भारत', मार्च-1937, 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता'

4 रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानातर साहित्य', सन् 1978 ई0, पृ - 18-19

हो गया। इतिहास को समझने की यह विधि यान्त्रिक है और पूरी तरह अवैज्ञानिक है।''

जहाँ जनेश्वर वर्मा प्रगतिवाद का आरंभ स्वाभाविक रूप मे सन् 1918 ई0 से मानते हैं, वही दूसरी ओर डॉ रागेय राघव[1] की मान्यता है कि सन् 1936 ई0 मे प्रगतिशील आंदोलन विदेश से लाकर हिन्दी मे रोप दिया गया। उन्होने लिखा है, ''हिन्दी मे इस भावना का विकास विलायत से लौटे हुए उन मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय युवकों ने किया जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, किन्तु जिनका ज्ञान भारत के विषय मे नही के बराबर था। वे लोग भारत के इतिहास और संस्कृति को कुछ अंगरेजी अनुवादो के माध्यम से ही पढ़ सके थे। हम उनके सद्प्रयत्नो को कम करके दिखाने की चेष्टा नही कर रहे हैं, वरन् यह बताने का यत्न कर रहे हैं कि प्रारंभ से ही जो नीव पडी उसकी ईंट टेढ़ी गिरी और दुर्भाग्य से उसके ऊपर की इमारत भी जरा तिरक्षी हो उठी।''

धर्मवीर भारती[2] ने भी इसी तरह के आरोप लगाए, ''यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशो में उसका दिवाला पिट चुका था। विदेशों की इस उतरन को हमने बड़े चाव से दौड़कर पहना, जबकि हमारे अपने साहित्य में किसी भी प्रगतिवाद से सौगुना शक्तिशाली प्रवृत्तियॉ पनप रही थीं।'' लगभग ऐसी ही आलोचना रामवृक्ष बेनीपुरी[3] ने की है, ''1934 में किसानों और मजदूरो का जो व्यापक आंदोलन हुआ, उसके कोलाहलों में प्रगतिवाद का जन्म हुआ। प्रगतिवाद मरता नहीं किन्तु जिनके हाथों में इसके पालन-पोषण का जिम्मा रहा, उन्होने पूतना का काम किया, दूध की जगह जहर पिलाया इसे। ...प्रगतिवाद को विदेशों से लाकर हमारे यहाँ रोपा गया। रूस से प्रेरणा मिली, लंदन में गर्भाधान हुआ। हिन्दुस्तान में पैदा होकर उसका रंग रूप हिन्दुस्तानी नहीं हुआ।''

---

1 रागेय राघव, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदड', सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, सन् 1954 ई0 पृ.–7

2 धर्मवीर भारती, 'प्रगतिवाद . एक समीक्षा', साहित्य भवन लि प्रयाग, प्रथम सस्करण, सन् 1949 ई0, पृ 14

3 रामवृक्ष बेनीपुरी, 'जनवाणी', मार्च–1948 ई0, 'प्रगतिवाद—उसके बाद?'

डॉ रामविलास शर्मा[1] ने लिखा है, "ये प्रोग्रैसिव राइटर्स समृद्ध घरानो के लोग थे, लेखको से ज्यादा नेता थे, विशेष रूप से हिन्दी साहित्य से अपरिचित, लेकिन दूसरो को रास्ता बताने को उत्सुक थे।"

लेकिन इसके बरअक्स लक्ष्मीकांत वर्मा[2] ने लिखा है, "हिन्दी साहित्य मे कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक दल, प्रगतिशील लेखक संघ ने लगभग दस वर्षो तक ऐसा आंदोलन चलाया था जिसके परिणामस्वरूप हिंदी के अनेक साहित्यकारों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने को प्रमाणित करने के लिए किसी न किसी रूप मे प्रगतिशील लेखक संघ से अपना संबंध स्थापित कर लें। इस भाग-दौड़ मे छोटे-बड़े सभी शामिल थे। यहाँ तक कि पंत, निराला, महादेवी वर्मा भी इससे नहीं बच सके। प्रगतिशील लेखक संघ के पास 'हंस', 'नया साहित्य', 'जनयुग', 'वीणा', 'वसुधा' आदि अनेक पत्रिकाएं थीं जिनके माध्यम से लेखकों का प्रचार प्रसार तो होता ही था, साथ ही उनको प्रतिष्ठा भी मिलती थी।"

चौथे दशक के दौर में प्रगतिशील आंदोलन के सामने भाषा, संस्कृति, जातीयता आदि के सवाल पर जनवादी हल प्रस्तुत करने की गंभीर चुनौतियाँ थी और हिन्दू सांप्रदायिकता तथा मुस्लिम सांप्रदायिकता के विरूद्ध संघर्ष छोड़ने की ऐतिहासिक जिम्मेदारियाँ आ गई थी। स्वाभाविक था कि इन प्रश्नो पर अंदरूनी मतभेद भी हो। शिवदान सिंह चौहान[3] ने इस मतभेद की तरफ इशारा किया है, "प्रारंभ से ही प्रगतिवादी राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी का समर्थन करते आए हैं। इस समर्थन के लिए उन्हें तीन बातों से प्रेरणा मिली। पहली बात तो यह थी कि हिन्दुस्तानी को उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक समझा। और चूंकि प्रगतिवादी सांप्रदायिकता से दूर रहना चाहते थे, इसलिए उन्होंने हिंदी अथवा

---

1 रामविलास शर्मा, 'निराला की साहित्य साधना', खड–1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण– सन् 1969 ई0, पृ – 325

2 'कल्पना', जून 1967, 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष'

3 शिवदान सिह चौहान, 'साहित्य की समस्याये', आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, प्रथम सस्करण सन् 1959 ई0, पृ 212

उर्दू के पक्षो को सांप्रदायिक पक्ष मानकर उनके दृष्टिकोण को समझना अवाछनीय माना। दूसरे, इससे उन्हे राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गहराई से सोचने से जैसे छुट्टी मिल गई और सरल समाधानो को ही स्वीकार करके उन्होने अपनी इतिकर्तव्यता मान ली। तीसरे प्रगतिवादी आदोलन मे हिंदी और उर्दू के प्रमुख लेखक एक ही संगठन मे एकत्र होते थे, अतः यह और भी जरूरी था कि हिदी और उर्दू मे से किसी एक का पक्ष न लिया जाए बल्कि दोनो की ऐतिहासिक परंपराओं की एकता पर जोर दिया जाए।''

रामविलास शर्मा[1] ने उस अवधि को याद करते हुए लिखा है, ''यह बिल्कुल सही है कि सन् '36 ई0 के आसपास हिंदी और उर्दू लेखको की एक बहुत बड़ी संख्या जितना एक दूसरे के निकट आई, उतना पहले कभी न आई थी।''

लेकिन बलराज साहनी[2] ने चौथे दशक के अंतिम दिनो और पांचवे दशक के प्रारंभिक वर्षों के प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों का हवाला देते हुए लिखा है, ''हाँ, लेकिन जब मैं प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में जाता तो मेरा दिल बैठ सा जाता। मैं देखता कि वहाँ भी हिंदी और उर्दू के सवाल पर लेखक दो हिस्सों में बँट रहे थे। मैं सोचता कि मार्क्सवादियों का काम है, इस नकली भेद की दीवार को तोड़ना, न कि उसे परवान करना।''

बहरहाल, सन् 1935-1936 ई0 के लगभग, पिछले युगो की संपूर्ण प्रगतिशील साहित्यिक विरासत को सँभालने वाले, प्रगतिवादी युग का आविर्भाव न तो किसी अनहोनी का सूचक है और न किसी ऐसी आकस्मिकता का, जो ऐतिहासिक संदर्भों से कटी, युग की संवेदनाओं से शून्य, बलात् हिन्दी साहित्य के गले बँध गई हो अथवा बाँध दी गई हो। युगीन गतिविधियों को देखते हुए जितनी स्वाभाविक कोई बात हो सकती थी, प्रगतिवाद

---

1 रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज', प्रथम सस्करण, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, सन् 1961 ई0 पृ 356

2 बलराज साहनी 'हिन्दी साहित्यकारो के नाम पत्र', टर्नल लायल लेन, जुहू बबई से प्रकाशित लघु पुस्तिका, सन् 1972 ई0, पृ–19

का आविर्भाव उतना ही स्वाभाविक था। वह काल-पुरुष का वह निर्णय था जिसके सारे संदर्भ तत्कालीन युग-जीवन मे एकदम नक्श थे।[1]

(क) प्रगतिशीलता की संक्षिप्त पृष्ठभूमि :

सामान्य अर्थो मे 'प्रगति' गति, प्रवाह अथवा आगे बढ़ने की सूचिका है। गति ही जीवन है, गतिहीनता तो मृत्यु है। आदिम युग से लेकर आज तक का इतिहास प्रगति का ही इतिहास है। इतिहास इसका प्रमाण है कि जिस तत्व मे आद्यन्त गति रही है, वह तत्व अनन्त गतिरोधों के बावजूद आज भी किसी न किसी अंश मे विद्यमान है किन्तु काल के थपेड़े से घबराकर जो तत्व निष्क्रिय हो गया वह काल-कवलित हो गया। अतः 'समाज मे गतिशीलता का बना रहना अच्छा है। प्रवाह सर्वत्र शोधक-शक्ति का काम करता है- नदी में भी, जीवन मे भी, साहित्य में भी।'[2]

कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने 'प्रगति' को विशिष्ट अर्थ प्रदान किया। उसने इन सब बातों को स्वीकार किया कि प्रगति में गति अथवा प्रवाह होता है; प्रगति आगे बढ़ने का नाम है, लेकिन ऐसी प्रगति अधूरी है जो एकमात्र आगे बढ़ने का नारा लगाती हुई चलती है। वस्तुतः एक विशिष्ट दिशा में आगे बढ़ना ही प्रगति का सच्चा स्वरूप है।

पहली बार मार्क्स ने प्रगति का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। प्रगति के स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण युगानुरूप हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचार-प्रसार ने ही 'प्रगति' की भावना को लोकप्रिय बनाया तथा 17वी सदी के बाद जब से समाज का ढांचा यांत्रिक परिवर्तनो से अधिक प्रभावित हुआ, प्रगति का वैज्ञानिक विश्लेषण सघनतर होता गया।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न समाजों की परिस्थितियॉ

---

1 शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, सन् 1966 ई0, पृ 9

2 हजारी प्रसाद द्विवेदी (आधुनिक लेखको का उत्तरदायित्व), सम्मेलन पत्रिका, सवत् 2009, पृ –29

एक नही होतीं। स्थितियाँ बदलती रहती है, परिणामतः प्रगति का स्वरूप भी परिवर्तनशील है। वस्तुतः जब समाज मे उत्पादन शक्ति परिवर्तित या विकसित होती है तब उस पर निर्भर रहने वाले मनुष्यो और मनुष्यो के बीच के सम्बन्ध भी बदलते हैं; विचारधारा भी बदलती है, समाज भी बदल जाता है और इस प्रकार प्रगति का मापदंड भी बदल जाता है।

लेकिन प्रगति अपने युग की परम्परा मे ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है। जब मार्क्स कहता है कि विकास के कारण वस्तु में ही निहित होते हैं, वे कही बाहर से नही आते तो इससे यही धारणा पुष्ट होती है कि परम्परा से विच्छिन्न होकर प्रगति नही की जा सकती। इस सम्बसन्ध में हिन्दी के प्रगतिशील आलोचको भगवत शरण उपाध्याय, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा तथा रांगेय राघव के विचार द्रष्टव्य हैं।

जहाँ भगवत शरण उपाध्याय[1] का मानना है, "... साहित्य का आदर करने वाले हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी उदार सांस्कृतिक परम्पराओ की रक्षा करे।" वही प्रकाश चंद्र गुप्त[2] ने लिखा है, "प्रगतिशील लेखक अपनी पुरानी विरासत को सम्मान सहित अपना कर...आगे बढ़ाता है।" इससे सहमत होते हुए रामविलास शर्मा[3] ने भी लिखा है, "प्रगतिशील साहित्य भारतीय जनता की सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास है।" रांगेय राघव[4] ने तो साफ-साफ कहा है, "प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की परम्परा में ही जन्मा है।" इस प्रकार इन सबने हिन्दी साहित्य के संदर्भ में एकमत से यह स्वीकार किया है कि प्रगतिशील साहित्य परम्परा में ही जन्मा है। किन्तु परम्परा के नाम पर वह पीछे का सही गलत सब कुछ ढोता नहीं चलता।

ध्यान देने की बात है कि आगे बढ़ने की क्रिया सदा एक सी नही होती और न लकीर की तरह सीधी होती है। आगे बढ़ने में कभी-कभी पीछे हटना भी शामिल रहता

---

1 भगवत शरण उपाध्याय, 'सकेत'–सपादक उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, पृ – 253

2 प्रकाशचद्र गुप्त–'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा', पृ – 148

3 रामविलास शर्मा, 'आलोचना'–जुलाई–1952 ई0

4 रागेय राघव, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदड' पृ – 17

है और फिर जहाॅ बात एक व्यक्ति और एक क्षण की न होकर सम्पूर्ण मानव जाति की हो . और सहस्त्राब्दियो की हो वहाॅ यह कभी किसी समय का पीछे हटना आगे बढ़ने की एक जरूरी शर्त बन जाता है, प्रगति क्रम की आवश्यक कडी है। इसलिए हमको मनुष्य की प्रगति यात्रा मे कभी-कभी पीछे लौटने के अर्थात् ह्रास के और अनेक ठहराव के युग मिलते हैं।[1]

सहज ही मन में जिज्ञासा उठती है कि प्रगति मे यह ठहराव क्यो आता है? प्रगति-यात्रा मे कभी-कभी पीछे क्यो लौटना पड़ता है और ह्रास के बाद प्रगति का दौर भी अधिक तीव्र क्यो हो जाता है? लक्ष्मण दत्त गौतम[2] के मतानुसार, इन तीनो प्रश्नो का एकमात्र उत्तर 'अंतर्विरोध' है। अंतर्विरोध प्रगति का प्राण तत्व है ; परिवर्तन की संचालन-शक्ति है। इस अंतर्विरोध के कारण आन्तरिक दशा इस प्रकार की हो जाती है कि परिवर्तन अपरिहार्य हो उठता है, उसे रोका जाना सम्भव नहीं होता, लेकिन जब हम अंतर्विरोध की प्रकृति को समझने में असमर्थ हो जाते हैं तब प्रगति में 'ठहराव' की स्थिति आ जाती है। अंतर्विरोध सार्वभौमिक होते हुए भी विशिष्ट होते हैं।

प्रगति को नवीनता का पर्याय भी कहा गया है। इस संबंध मे रामधारी सिंह दिनकर[3] का कथन है "प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवादी नहीं बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे मे उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्चित-चर्वण, पुरातन विजृंभन और गतानुगतिकता के खिलाफ हैं। वे सभी लेखक प्रगतिशील हैं, जो किसी प्रकार भी अनुकरणशील नही कहे जा सकते। प्रगति का विलोम युग-विमुखता नही, बल्कि गति-विमुखता अथवा अगति है।"

वस्तुतः दिनकर की यह परिभाषा मार्क्सवाद की परिभाषा से भिन्न नही है। दिनकर ने जिसे 'नवीनता' कहा है मार्क्स तथा एंगेल्स ने उसको 'उछाल' कहा है। 'उछाल' से

1 अमृतराय, सहचिन्तन, पृ – 15

2 लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य मे प्रगति चेतना, पृ – 25

3 रामधारी सिह दिनकर 'रसवन्ती' (भूमिका), उदयाचल, पटना, तृतीय सस्करण–सन् 1946 ई0, पृ 5–6

जब क्रम टूट जाता है तो निश्चित रूप से 'नवीनता' ही सामने आती है।

इस प्रकार समग्र रूप मे प्रगति कोरी गतिशीलता का नाम नही है, अपितु विशिष्ट दिशा मे आगे बढने का नाम ही प्रगति है, अर्थात् सोद्देश्यता प्रगति की पहली निशानी है। विशिष्ट दिशा मे आगे बढने के लिए स्थितियो के भीतर से 'अंतर्विरोध' को पहचानना जरूरी है।

एक बेहद महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या प्रगतिवाद और प्रगतिशील शब्द एक ही हैं या दोनो मे कोई भेद है? वस्तुतः प्रगतिवाद और प्रगतिशील मात्र शब्द नही हैं वरन् व्यापक अर्थ-बोध के सूचक हैं। ये दोनो शब्द परस्पर भिन्न हैं , दोनों ही भिन्न अर्थबोध के वाचक हैं। शिवदान सिंह चौहान[1] ने लिखा है, "प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद ये दोनों एकार्थक नही हैं, और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना ही जरूरी है।"

हजारी प्रसाद द्विवेदी[2] के अनुसार, "प्रगतिवाद एक निश्चित तत्ववाद (साम्यवादी विचारधारा) का सूचक है जबकि प्रगतिशील शब्द व्यापाक है।...प्रगतिवाद प्रगतिशील साहित्य की एक शाखा मात्र है।"

वस्तुतः प्रगतिशील साहित्य भारतीय चिन्ता-परम्परा से पोषित एवं मतवाद के दुराग्रह से परे है[3]। प्रगतिशील साहित्य प्रगतिवाद की सीमाओ के त्याग एवं शक्ति के ग्रहण का आग्रह करता है। कबीर, तुलसी, भारतेन्दु तथा प्रेमचंद जैसे लेखकों को प्रगतिशील साहित्य अपने दामन की शीतल छाया देने का हामी है, जबकि प्रगतिवाद इस दिशा में मौन है और इस प्रकार भारतीय परम्परा से कटा हुआ मताग्रही 'प्रलेतेरियन' साहित्य का वाचक हो गया है[4]।

---

1 शिवदान सिह चौहान, साहित्य की समस्याएँ, पृ. – 51

2 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ – 495–97

3 लक्ष्मण दत्त गौतम, 'आधुनिक हिन्दी कहानी मे प्रगति चेतना' पृ – 33

4. वही

आलोचको का एक वर्ग ऐसा भी है जो प्रगतिवाद और प्रगतिशील मे जान-बूझकर कोई भेद स्वीकार नही करता। डॉ रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, नामवर सिह, अमृत राय, मन्मथनाथ गुप्त तथा नरेन्द्र शर्मा इसी वर्ग के अतर्गत आते हैं। उनका विचार है कि हिन्दी-आलोचना मे प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावादी और छायावाद का[1]। नामवर सिह[2] के मतानुसार, "जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नही है, उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नही है। वाद की अपेक्षा शील को अधिक अच्छा और उदार समझकर दोनों मे भेद करना कोरा बुद्धि विलास है।"

जान-बूझकर प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अभेद स्थापित करने वालो के अलावा एक ऐसा भी वर्ग है जो अनजाने मे प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य का बारम्बार प्रयोग करता है लेकिन इनके भेद-अभेद की ओर सम्भवतः उनका ध्यान ही नही गया। इस दिशा मे यद्यपि अनेक लेखक मिल जाएँगे, लेकिन प्रकाशचन्द्र गुप्त इस कोटि के लेखकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवादी लेखक सघ के जन्म के समय अपने प्रारम्भिक भाषण में मुंशी प्रेमचंद ने विचार प्रस्तुत किया कि प्रगतिशील लेखक संघ का नाम ही गलत है, क्योंकि साहित्यकार अथवा कलाकार स्वाभाविक रूप से ही प्रगतिशील होता है। प्रेमचंद की यह टिप्पणी भारतीय साहित्य चिन्तन की परम्परा के साथ जुड़ी हुई थी जिसके अनुसार कल्याणकारी होना ही साहित्य का लक्ष्य है और कल्याणकारी होना निश्चित रूप से प्रगतिशीलता भी है। पर आलोचकों द्वारा धारणा यह बना दी गई कि प्रगतिवाद पराधीन और बाद में विकासशील राष्ट्रों का मार्क्सवाद है और साहित्य मे आलोचनात्मक यथार्थवाद विकासशील राष्ट्रों का समाजवादी यथार्थवाद है। ये धारणाएँ पंजाबी में कई बार दोहराई गई हैं किन्तु हिन्दी में

---

1 लक्ष्मण दत्त गौतम, 'आधुनिक हिन्दी कहानी मे प्रगति चेतना', पृ – 33

2 नामवर सिह, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', सन् 1995 ई0, पृ – 70–71

इनका आरम्भ प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना से लगभग बाद मे होता है।[1]

सवाल यह है कि यदि प्रगतिवाद मार्क्सवाद ही था तो इस सगठन का नाम मार्क्सवादी लेखक सघ क्यो नही रखा गया? आज भी जब कुछ लोगो की दृष्टि मे प्रगतिवादी लेखक सघ शोधवादी कार्यो से अप्रासगिक हो चुका है, तो इसकी जगह कोई दूसरी संस्था बनाने की आवश्यकता है। तो फिर उस सस्था का नाम जनवादी लेखक सघ क्यो रख रहे हैं? मार्क्सवादी लेखक संघ क्यो नही?[2]

इस प्रकार नाम से सगठन मार्क्सवादी नही पर पहचान से मार्क्सवादी हैं। गुरूबख्श सिंह फ्रैंक[3] के अनुसार, "इसी कारण मार्क्सवादी होने या न होने के बीच में स्वयं पहचान का संकट उत्पन्न हुआ है।"

स्वयं अमृतराय के लिए भी मार्क्सवाद एक खुला एवं गतिशील दर्शन है। अमृतराय[4] कवि 'अंचल' की कुछ आपत्तिजनक बातो का खंडन करते हुए कहते हैं, "नही प्रगतिवाद, मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा नही है। प्रगतिवाद उन सभी साहित्यिकों का मोर्चा है जो देश को ब्रिटिश पराधीनता से पूर्णतया मुक्त कराना चाहते हैं।"

स्पष्ट है कि वे जिस तरह मार्क्सवाद को किसी राजनीतिक दल विशेष के साथ जोड़कर नही देखते, उसी तरह प्रगतिवाद को भी साहित्यकारो के किसी समूह या वर्ग से सम्बद्ध नही करते।

कुछ आलोचकों में यह धारणा है कि प्रगतिशील लेखक का मार्क्सवादी होना आवश्यक है। लेकिन अमृतराय सभी साहित्यकारों से मार्क्सवादी बनने की अपेक्षा नहीं रखते। जीवन के प्रति सच्चा बनने की अपेक्षा रखते हैं। वह मानते हैं कि दर्शन जीवन से बड़ा नही होता और आलोचक के लिए यह समझना और भी जरूरी है, अन्यथा उसकी आलोचना एकांगी होगी या पक्षपातपूर्ण।

---

1 'पहल–64–65' (मार्क्सवादी आलोचना विशेष), पृ – 248

2 वही, पृ – 249

3 गुरुबख्श सिह फ्रैक—'प्रगतिवादी चेतना आत्म पहचान का सकट', पहल 64–65, पृ –249

4 अमृत राय, 'नयी समीक्षा', पृ – 241

इस प्रकार प्रगतिवाद और प्रगतिशील शब्द भिन्नार्थक है। यद्यपि दोनो की मजिल एक है - समाजवादी समाज की स्थापना, किन्तु रास्ते अलग-अलग है। एक का रास्ता 'विशिष्ट' मार्क्सवाद है, जबकि दूसरे का रास्ता मार्क्सवाद भी है और इसके अलावा सैकडो परम्परित एव सामयिक मतवाद एव चिन्ताधाराएँ है जिनका नीर-क्षीर-विवेक करके प्रगतिशील साहित्य अपने गन्तव्य-स्थल पर पहुँचता है। प्रगति-वैशिष्ट्य इसमे भी है किन्तु इतना सघन नही जितना प्रगतिवाद मे है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी[1] के शब्दो मे, " ..मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आएगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रो पर समाजवाद के किसी-न-किसी रूप का आधिपत्य होगा। उस दिन के लिए हमें अभी से तैयारी करनी होगी। आज से ही हमारे प्रगतिशील तरूण साहित्यकारों को यह याद रखना होगा कि किसी दिन ऐसे सैकडो मतवादों और तत्व-चिन्ताओं का उन्हें आत्मनिरपेक्ष भाव से अध्ययन, मनन, सम्पादन और विवेचन करना होगा जो उनके आज के प्रचारित मत के विरूद्ध पड़ेंगी।"

प्रगतिशीलता के सैद्धांतिक आधार की तह में प्रगति-चेतना के कुछ मानदण्ड हैं। लेकिन प्रगति-चेतना के मानदण्ड अथवा प्रतिमान निर्धारित करने से पूर्व इस तथ्य को जान लेना आवश्यक है कि नीचे दिए गए प्रतिमान शाश्वत और निरपेक्ष नही हैं। आधुनिक भारतीय समाज की प्रगति के संदर्भ में ही इनकी स्थिति और सार्थकता है। हिन्दी के साहित्यिक कैनवेस पर प्रगति-चेतना की जो विशेष प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आ गई हैं उन्हें प्रतिमान मानकर आँक लिया गया है। वे इस प्रकार हैं—

(1) कलावाद का विरोध

(11) साहित्य और समाज : पूरक तत्व

(111) शोषण का विरोध

(1v) यथार्थ-बोध

(v) रूढ़िवाद का विरोध

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य-सहचर, पृ -157-58

(vi) समष्टि-हित

(vii) रूपबन्ध मे परिवर्तन

प्रगतिशील चिन्तन अथवा प्रगति-चेतना के सदर्भ मे जिन मानदण्डो का निर्धारण किया गया है उनकी स्थिति और सार्थकता सापेक्ष है। वे रूढ नही हैं।

कलावाद का विरोध प्रगति-चेतना का पहला मानदण्ड है। कलावाद का विरोध करता हुआ प्रगतिशील चिन्तक कलाकार यह मानता है कि कला आदिम सत्यो (प्रेम, करुणा आदि) से युक्त रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है लेकिन उसकी सार्थकता तभी है जब वह विचार के स्तर पर लेखक की निजता के साथ गहराई, व्यापकता और वास्तविकता के पटल पर अंकित हो।

अमृत राय[1] ने लिखा है–"मैं सबके सुख और सबके उत्कर्ष के लिए लिखता हूँ और उसी क्षण अपने सुख और अपने उत्कर्ष के लिए लिखता हूँ क्योकि मैं सबमे से ही एक हूँ।"

वस्तुतः अमृत राय जनसुख मे ही आत्मसुख मानते हैं और इस प्रकार उनकी कला-धारणा साहित्य मे समष्टि-हित को सजोए रहती है जिसमे कलाकार का 'व्यक्ति' सागर में बूँद की तरह समाया रहता है।

अमृत राय के लिए कला भाववाही न होकर चेतनापरक है। चेतना एक विचार है जो वस्तु-सापेक्ष, परिस्थिति-सापेक्ष और समाज-सापेक्ष होता है।[2] परिस्थितियाँ बदलती रहती है अतः उसी के अनुरूप कला का रूप भी बदलता रहता है। वस्तुतः परिस्थितियाँ ही ऐसा मूल्य हैं जो 'मनुष्य की चेतना को गढ़ती हैं।'[3]

सामाजिक प्रतिबद्धता प्रगतिशील चिन्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है। कलाकार

---

1 अमृत राय, 'सहचिन्तन' (लोकमगल और आत्म–अभिव्यक्ति), पृ –48

2 नई समीक्षा, अमृत राय, पृ –2

3 वही

का काम हमारे सम्पूर्ण आवेष्टन, सम्पूर्ण जीवन का मूल्याकन और व्याख्या करना है। जीवन से ऑख बचाकर नही, जीवन को उसकी पूर्णता मे रागात्मक निरीक्षण और अनुभूति का विषय बनाकर ही कलाकार अपने काम को पूर्णतया सम्पादित कर सकता है।

अमृत राय[1] ने लिखा है, "समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पडता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर-यह सामान्य तथ्य है जिसे स्वीकार करने मे किसी को कोई कठिनाई नही होगी।" जहॉ अमृत राय यह लिखते हैं कि साहित्यकार का प्रभाव समाज पर पड़ता है वहॉ वे समाज के प्रति साहित्यकार का एक विशेष दाय भी बताते चलते हैं। उनकी धारणा है कि साहित्यकार जब किसी विशाल जन जीवन का चित्रण करने को प्रतिबद्ध होता है तो उसे जनता के बीच आकर खड़ा होना पडता है और उनके सुख-दुख की अनुभूतियो के साथ अपने को एकाकार करना पड़ता है[2]।

शोषण का विरोध प्रगतिशील चिन्तन का तीसरा प्रतिमान है। प्रगतिशील कलाकार कला के माध्यम से शोषण का विरोध करने को प्रतिबद्ध है। समाज में होने वाले शोषण के हर पहलू पर अमृत राय की दृष्टि है। चाहे घर की चहारदीवारी में घुट-घुट के मरनेवाली नारी हो अथवा खेतों में तपनेवाला किसान, दफ्तरों मे कलम घिसनेवाला बाबू हो या स्कूलों में सिर फोड़ने वाला अध्यापक, मिलों में काम करने वाला सर्वहारा मजदूर वर्ग हो या ले-देकर पेट भर जुटाने वाला निम्नवर्ग-सब पर अमृत की नजर है और आज की व्यवस्था में वे सबको एक-दूसरे का 'रखैल'[3] समझते हैं।

कला के माध्यम से कलाकार चाहे समग्र जीवन की निजता का शब्दांकन करे, चाहे सामाजिक दाय की हामी भरे अथवा शोषण का विरोध करे लेकिन जब तक कला मे वह सब विश्वसनीय न लगे तब तक कहा-कहाया सब निष्प्राण-सा लगता है। अतः प्रगतिशील कलाकार समाज के अभावो, कुव्यवस्थाओं और दुर्बलताओं को पाठक की ऑखो के सामने लाने के लिए यथार्थ-बोध का सहारा लेता है। प्रगतिशील कलाकार यथार्थ-बोध का उद्देश्य

---

1 अमृत राय, नई समीक्षा, पृ –2

2 वही, पृ –15

3 अमृत राय, जीवन के पहलू (हम रखैल), पृ –5

मात्र फोटोग्राफी नही मानता। हू-ब-हू शब्दाकन निराशावादी भावना पैदा करता है। प्रगति कामी अपनी कला मे दुःख अवसाद और कष्टो के भीतर से ऐसे मनुष्य की सृष्टि करता है जो पशुओ से अलग है , परिस्थितियो से जूझकर अपना रास्ता साफ करता है या साफ करने को प्रतिबद्ध है और जो सत्य और कर्त्तव्य-निष्ठा के लिए किसी की स्तुति या निन्दा की परवाह नही करता।

अमृत राय[1] के अनुसार जो साहित्यकार जितनी अधिक संवेदनशीलता के साथ जीवन को अपने साहित्य मे उतारता है, उतना ही बड़ा साहित्यकार होता है और जीवन से हमारा अभिप्राय काल्पनिक, स्वप्निल जीवन से नही प्रत्युत जीवन-संघर्ष से है, जीवन-संघर्ष से पैदा मानसिक, वैचारिक और भावात्मक उथल-पुथल से है।'' तात्पर्य यह है कि यथार्थवाद से आशय जीवन का हू-ब-हू चित्रांकन नहीं है, तदर्थ साहित्यकार को संवेद्य होकर जीवन में उतरना पड़ता है ; समग्र जीवन के अवरोधक तत्वों के विरोध मे संघर्ष करना पड़ता है और परिवर्तन के लिए एक ठोस दिशा देनी पड़ती है। अन्यत्र भी उन्होंने अपनी इसी मान्यता को दुहराया है : '...साहित्य मे जीवन की तथ्यपरक अनुकृति प्रस्तुत करना यथार्थवाद का लक्ष्य नही है। उसका लक्ष्य है सत्य की खोज और उस खोज को अभिव्यक्ति प्रदान करना।'[2] उपरोक्त कथन से जाहिर है कि यथार्थ के साथ उन्हे आदर्श भी अभीप्सित है।

प्रगतिशील चिन्तन का पाँचवाँ मानदण्ड रूढ़िवाद का विरोध है। यह बड़े जोखिम का काम है। लेकिन प्रगति-चेता-चिन्तक-कलाकार ऑख मीचकर रूढ़ियो का विरोध नहीं करता। वह रूढ़िवाद का विरोध सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियो की प्रकृति और उनकी तात्कालिक उपादेयता पर विचार करके ही उन पर प्रहार करता है।

प्रगति चेता साहित्यकार कला मे 'समष्टि-हित के समर्थन' की आकांक्षा करता है। वह नहीं देख सकता कि एक जाति दूसरी जाति को म्लेच्छ समझे। प्रगतिशील चिन्तक चाहता है कि समूची जाति जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम

---

1 अमृत राय, नई समीक्षा, पृ -38

2 अमृत राय, सहचिन्तन (यथार्थवाद की समस्याए), पृ -77

करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर न रखकर पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी का मोहताज न हो, कोई किसी से वचित न हो, उस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य अनुप्राणित होना चाहिए।

प्रगति-चेतना के मानदण्डो मे कलावाद का विरोध हो या सामाजिक प्रतिबद्धता , शोषण का विरोध हो या यथार्थ-बोध , रूढिवाद का विरोध हो या समष्टि-हित का समर्थन-मूलतः ये सब अनुभूतियाँ हैं, विचार हैं। इनकी सफलता और सार्थकता तभी सम्भव है जब इन्हे सबल अभिव्यक्ति मिले। अतः अनुभूति और अभिव्यक्ति का चोली-दामन का साथ है। कथ्य मे परिवर्तन होने के साथ-साथ शिल्प मे परिवर्तन होता रहता है। अतः प्रगतिशील कलाकार कथ्य मे ही परिवर्तन की आकांक्षा नही करता बल्कि रूपबन्ध मे भी अनुकूल परिवर्तन करता चलता है।

अमृत राय[1] का विश्वास है कि 'जहॉ कला मे प्रयोग नही होते वहॉ कला मर जाती है।' लेकिन प्रयोग के लिए प्रयोग उन्हें ग्राह्य नही है। उनके विचार से जो साहित्य 'अर्थ' को निर्वासित करके केवल 'वाक्' को ही साहित्य मानता है, उसके मूल में ही कोई भ्रान्ति है[2]। ऐसी शुद्ध कलात्मक प्रयोगशीलता अन्ततः 'वन्ध्या' सिद्ध होती है[3]। ऐसे साहित्यकारों को साहित्य के अंतर्गत रूप की अवहेलना कदापि इष्ट नहीं है। इसे तो वे अपनी रचना-प्रक्रिया का अंग मानते हैं लेकिन अमृत राय 'रूप' का सार्थक प्रयोग वहीं मानते हैं जहाँ 'वस्तु' के सजीव सन्दर्भ में उसकी अभिव्यक्ति की गई हो[4]।

प्रेमचंद ने सन् 1936 ई0 में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण मे साहित्य के लिए एक नयी सौंदर्य दृष्टि की मांग की थी और स्वतंत्रता एवं समाजवाद के पक्ष में संगठित संघर्ष के लिए लेखको का आह्वान किया था। अमृत राय ने उस आह्वान

---

1 अमृत राय, सहचिन्तन (वस्तु और रूप), पृ –71
2 वही, पृ –70
3 वही, पृ –72
4 वही, पृ –71

को अपने लिए भी समझा और 'हंस' के प्रकाशन एव सम्पादन के जरिए तथा अपने रचनात्मक और वैचारिक लेखन के जरिए वे सघर्ष के मैदान मे उतरे। इतना ही नही, वे इस सघर्ष से इस हद तक जुड़े कि सन् 1943 ई0 मे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गये और कम्युनिस्ट आदोलन मे काम करते हुए अपने वैचारिक सांस्कृतिक मूल्यो को लागू करने मे लगे रहे। उन्होने 'विचारधारा और साहित्य' नाम की अपनी पुस्तक मे लिखा है कि सन् 1956 ई0 तक वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य रहे, उसके बाद नही, लेकिन इसी पुस्तक मे लगभग तीन दशक बाद अमृत राय[1] कहते हैं, "मैं आज भी अपने को वामपक्षी समझता हूँ, मार्क्सवादी समझता हूँ, भले मैंने किन्ही कारणों से सन् 1956 ई0 मे पार्टी से सबंध विच्छेद कर लिया हो...विचारधारा क्या कोट या मेरे इस कुर्ते जैसी कोई चीज है, जब मन किया, एक उतारा और दूसरा पहन लिया?"

अमृत राय साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन के विकास के लिए लगातार चिंतित रहे है। उन्हें सन् 1973 ई0 के बांदा सम्मेलन, सन् 1980 ई0 के जबलपुर सम्मेलन और सन् 1982 ई0 के जयपुर सम्मेलन की गोष्ठियों में सक्रिय देखा गया। लेकिन वे सम्मेलन से आगे बढकर प्रगतिशील आंदोलन के विकास के लिए वैचारिक स्तर पर सोचते रहे।

खगेन्द्र ठाकुर[2] ने लिखा है, "हिन्दी के आलोचको ने प्रगतिशील आंदोलन को मदद तो पहुँचायी ही है, अनेक बार अपनी कठोरता और संकीर्णता से नुकसान भी पहुँचाया है। इस नुकसान को ध्यान में रखकर अमृत राय सलाह देते हैं कि अपने मतवादी आग्रहों (जो विचारधारात्मक और सौंदर्यात्मक दोनों होते हैं) के कारण अपने नजदीक आये लेखकों, खास करके नये लेखकों को निर्जीव लेखन करने या लिखना बंद कर देने को या आपका साथ छोड़कर भाग खड़ा होने को मजबूर न करें।"

आजादी के बाद एक गुट प्रगतिशीलों के विरोध मे जोरो से काम कर रहा था। यह गुट दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भारत में आने वाले बासी विचारों का अनुकरण कर मार्क्सवादियों

1 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, सन् 1984 ई0, पृ–22
2 खगेन्द्र ठाकुर—'अमृत राय अनोखा व्यक्तित्व', अब–21, पृ–15

पर निरन्तर हमले कर रहा था। देश, समाज और जीवन के नये सन्दर्भो के विरूद्ध वह व्यक्तिवाद, अलगाववाद, अस्तित्ववाद और लघु मानव जैसे विदेशी फार्मूलो का मिथ्या प्रयोग कर साहित्य मे भ्रम फैला रहा था। अमृत राय उससे बराबर टकराते रहे। 'हंस' द्वारा लगातार प्रतिवाद और विरोध करते रहे।

लेकिन मार्कण्डेय[1] के शब्दो मे, "इसे एक दुर्योग ही कहेगे कि प्रगतिशील साहित्य के नेतृत्व मे सर्वाधिक उत्साही व्यक्ति होने के बावजूद, स्वतंत्रता के बाद उन्होने संगठन मे जो भी कदम उठाये उसमे उन्हे सफलता नही मिली। व्यक्तित्व विश्लेषण करने पर पता चलता है कि अपने कर्मो का प्रतिफल वे तुरंत चाहते थे और न मिलने पर एक फूले हुए गुब्बारे के सहसा फूट जाने की स्थिति मे पहुँच जाते थे। अपने उपन्यासो अथवा आलोचना पुस्तकों के प्रकाशन के बाद भी कमोबेश उनकी यही स्थिति होती थी।"

अपनी भाषा के निजी रचाव के मामले मे भी अमृत राय की सजगता गौरतलब है। डॉ. राजेन्द्र कुमार[2] के शब्दों में, "प्रगतिशील आंदोलन के इतिहास में पार्टीगत आधारों पर संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रश्न चाहे कितना भी विवादास्पद रहा हो लेकिन भाषा के संदर्भ मे यह तथ्य निर्विवाद है कि प्रगतिशील लेखन के लिए उपयुक्त मानसिकता तैयार करने मे हिन्दी और उर्दू, दोनों ही भाषाओं के लेखकों ने अपना संयुक्त मोर्चा बनाकर चलने में शुरू से ही कोताही नहीं की थी। अमृत राय की भाषा हिन्दी-उर्दू के संयुक्त मोर्चे की एक अनूठी मिसाल है। हिन्दी के अन्य प्रगतिशील लेखकों मे भाषा का ऐसा संयुक्त मोर्चा प्रायः देखने को नहीं मिलता।"

लेकिन डॉ अली अहमद फातमी[3] अमृत राय के बदले रूप पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं। उनके मुताबिक, सन् 1986 ई0 में प्रगतिशील लेखक संघ ने अपनी उम्र के पचास साल पूरे कर लिए तो चारो तरफ गोल्डन जुबली समारोह मनाया जाने लगा। लखनऊ

---

1 मार्कण्डेय, 'हिन्दुस्तानी', भाग–57, अक 3–4, पृ –176

2 डॉ राजेन्द्र कुमार, 'हिन्दुस्तानी', भाग–57, अक 3–4, पृ –182

3 डॉ अली महमद फातमी, 'हिन्दुस्तानी', भाग–57, अक 3–4, पृ –185

मे हिन्दी-उर्दू साहित्यकारो की कान्फ्रेन्स होने वाली थी, लेकिन ठीक उन्ही दिनो अमृत जी पता नही कैसे और किस तरह हिन्दी के उन साहित्यकारो के गिरोह मे चले गये जो उर्दू को किसी भी तरह दूसरी सरकारी जबान देखना पसन्द नही करता था। उन्ही दिनो हिन्दी के कुछ सुप्रसिद्ध कवियो व साहित्यकारो ने, जिनमे महादेवी वर्मा व जगदीश गुप्त जैसे लोग भी शामिल थे, उर्दू के खिलाफ अखबार मे बयान दिया। मुझे उस वक्त बडी हैरत हुई जब मैंने उसमे अमृत जी का नाम देखा, कुछ देर के लिए मुझे यकीन ही न आया, ऐसा लगा जैसे मुझसे कही कोई गलती हो रही है। बाद मे पता चला कि उर्दू के ताल्लुक से हिन्दी के बाज तरक्कीपसन्द अदीबो की सोच नई नही है, इससे पहले यशपाल, अमृत लाल नागर आदि भी ऐसा ही कर चुके हैं लेकिन अमृत जी? वह तो इन सबसे बहुत अलग मिजाज और किरदार के इंसान हैं, फिर वह तो प्रेमचंद के बेटे हैं, वह प्रेमचंद जो उर्दू अफ़साने का बाबा आदम है, हम तमाम उर्दू के तरक्कीपसंद अदीबों का रहनुमा, उनका बेटा अमृत राय उर्दू के खिलाफ...। लखनऊ की कान्फ्रेन्स में इलाहाबाद से हम लोग सै. मो. अकील, अमरकांत, अजीत पुष्कल आदि शिरकत करने गये तो भीष्म साहनी ने मुझसे सवाल किया, "अमृत नही आये-?" मैं क्या बताता- किसी ने कहा "आजकल उनकी गैरतरक्कीपसंदों से पट रही है।"

नये समाज की संस्थापना की दिशा में, जिसका मूल उद्देश्य मनुष्य के खोये हुए सहज मानवीय रूप को पुनः अपनी समग्रता में पा सकने को संभव बनाना है, उन सांस्कृतिक प्रयासो का भी एक विधायक स्थान और महत्व है जो मनुष्य की उन मुमूर्षु संवेदनाओं और ऐन्द्रिक संज्ञाओ को फिर से जगाती और सबल बनाती हैं। इसलिए जो विचारक ऐसी रचनाओ को त्याज्य मानता है वह उन रचनाओं के साथ तो अन्याय करता ही है, मार्क्सवाद के साथ भी अन्याय करता है और अपने आंदोलन के साथ भी अन्याय करता है।

यही कारण है कि प्रगतिशील आंदोलन औरो की तरह मुक्तिबोध के साथ भी न्याय नही कर सका। अमृत राय[1] ने लिखा है- "यह बात और है कि मैं उनको 'हंस' में बराबर

1 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', पृ –100

छापता रहा, और सन् 1957 ई0 मे जो एक बडा साहित्यकार सम्मेलन मैने प्रयाग मे आयोजित किया था, जिसमे पत, महादेवी और हजारी प्र द्विवेदी से लेकर तब केवल सत्रह साल के शायद सबसे अल्पवयस्क अशोक वाजपेयी तक सभी अच्छे प्रतिभासंपन्न कवि साहित्यकार उपस्थित थे, मुक्तिबोध ने ही कवि गोष्ठी की अध्यक्षता की थी जिसमे कवियो ने कविता पर गभीर चर्चा की थी। तथापि शायद यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रगतिशील साहित्य आंदोलन के पुरोधाओ ने तब तक मुक्तिबोध की प्रतिभा को नहीं पहचाना था, भले मुक्तिबोध बराबर उसी आदोलन से जुडे रहे हो।''

दरअस्ल, हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों के बीच साहित्य मे संयुक्त मोर्चे के सवाल पर सन् 1950-51 ई0 मे जो तीखी बहस चली थी उसमे अमृत राय ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। अमृत राय उस समय 'हंस' के संपादक थे और इस बहस मे उन्होने न सिर्फ बढ-चढ़ कर हिस्सा लिया था; बल्कि इसमें शामिल होने के लिए साहित्यकारों और साहित्य में विचारकों को प्रेरित भी किया था।

दरअस्ल साहित्य में संयुक्त मोर्चे के सवाल पर जो बहस चली थी उसकी पृष्ठभूमि राजनीतिक थी और यह मुद्दा कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति से जुड़ा हुआ था। झगड़ा पार्टी लाइन का था।

अमृत राय 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका के आरम्भ में इस मुद्दे के राजनीतिक स्वरूप को स्पष्ट कर देते हैं और प्रगतिशील आन्दोलन के लिए इसके महत्व पर प्रकाश डालते हैं। वह लिखते हैं- ''इधर काफी अर्से से कम्युनिस्ट राजनीतिक हलकों में पार्टी की उग्र वामपंथी संकीर्णतावादी ट्राटस्कीवादी, टीटोवादी गलतियों के बारे में बहस चल रही हैं। प्रगतिशील आंदोलन के बारे मे बहस चल रही है। प्रगतिशील आंदोलन के लिए इस बहस का महत्व इस बात में है कि हमारे इस आंदोलन के नेतृत्व मे कई लेखक हैं जो कम्युस्टि पार्टी के सदस्य भी हैं और चूंकि साहित्य राजनीति से पृथक नही है इसलिए उन लेखकों की राजनीतिक समझ का असर उनके साहित्य पर और उनके नेतृत्व

मे चलने वाले साहित्य आन्दोलन पर भी पडा जो कि स्वाभाविक ही था।''[1]

अर्थात् साहित्य मे सयुक्त मोर्चे का जो सवाल उठा उसके मूल में प्रगतिशील लेखक सघ की राजनीतिक समझ थी जो पहले उग्र वामपंथी सकीर्णतावाद से प्रभावित और फिर उसके असर से उबरने के प्रयास से प्रेरित थी। यह प्रयास जरूरी हो गया था। अमृत राय के अनुसार इन गलतियो ने पार्टी को और उससे सम्बद्ध जन-संगठनों को एकदम छिन्न-भिन्न करके रख दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि नई कविता और नई कहानी आंदोलन के उभार के साथ प्रगतिशील लेखक संघ और आंदोलन के बिखराव की जो स्थिति पैदा हुई इस पर विचार करते हुए प्रगतिशील लेखकों ने विचारधारा के स्तर पर अपनी कमजोरियों को तलाशने की कोशिश की और पार्टी लाइन को ही उसके लिए दोषी माना जैसा कि राजनीति के क्षेत्र में भी कम्युनिस्ट कर रहे थे। रामकृष्ण पांडेय[2] ने लिखा है, ''पार्टी अपने को रणदिवे की सोच से उबारने की कोशिश मे लगी हुई थी तो प्रगतिशील लेखक संघ अपने महासचिव रामविलास शर्मा के वैचारिक प्रभाव से निकलने की कोशिश में। संयुक्त मोर्चे का प्रस्ताव इसी का एक उपाय था।''

अमृत राय ने वामपथी संकीर्णतावाद का एक प्रभाव नारो के साहित्य के रूप में देखा है। प्रगतिशील लेखन मे नारो के साहित्य की भरमार की व्याख्या वह इस रूप मे करते हैं कि जनता से सम्बन्ध सूत्र टूट जाने पर उसकी आशाओं, आकांक्षाओं और हृदयगत भावनाओ को अभिव्यक्ति प्रदान करना सम्भव नहीं रह गया था इसलिए नारो के साहित्य के सृजन का दौर शुरू हो गया। रामकृष्ण पांडेय[3] आगे लिखते हैं, ''...इस बीच जनता से हमारे सम्बन्ध सूत्र टूट चुके थे। इसलिए स्वाभाविक ही था कि हम अपनी जनता की हार्दिकतम भावनाओं को, आशाओ और आकांक्षाओं को वाणी न देकर यांत्रिक, नारेबाजी

---

1 'वर्तमान साहित्य' (आलोचना के सौ बरस–1), पृ –213–14
2 रामकृष्ण पाडेय, 'वर्तमान साहित्य' (आलोचना के सौ बरस–1), पृ –214
3 रामकृष्ण पाडेय, 'वर्तमान साहित्य' (आलोचना के सौ बरस–1), पृ –216

शैली का साहित्य रचे जिसमे असलियत कम और बुखार ज्यादा हो।"

जनता से सम्बन्ध सूत्र क्यो टूटा? इसलिए कि देश की आजादी का जिस उत्साह से जनता ने स्वागत किया, उसी उत्साह से प्रगतिशील साहित्यकारो ने नही किया। उन्होने उसे असली आजादी नही माना, बल्कि उसकी आलोचना की। अमृत राय पूछते हैं, "राष्ट्र को अपनी सरकार मिली, पूँजीपतियो के नेतृत्व मे ही सही, इसमे दर्द और गुस्से के लिए भला कहाँ जगह थी?"[1]

अमृत राय के मुताबिक इस प्रसंग में तीन गलतियाँ हुईं। पहली, समस्त पूँजीपतियो का साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन दिखाया गया जो कि गलत है। गठबंधन केवल बड़े पूँजीपतियो ने किया था। इसकी, साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन की बिना पर, पर्दे के पीछे ही सही मगर उसकी सरपरस्ती में कायम हुकूमत को 'पूँजीपतियो की प्रतिनिधि सरकार' कहना गलत था। तीसरी गलती यह थी कि लेखकों के संगठन को राजनीतिक परिवर्तन की व्याख्या से बांध दिया गया।

तात्पर्य यह कि अमृत राय यह मानते हैं कि इन तीन गलतियों की वजह से प्रगतिशील लेखक संघ और उसके नेता देश की आजादी का इस तरह से स्वागत नही कर सके जिस तरह इस देश की जनता ने किया। परिणाम यह हुआ कि जनता से सम्बन्ध सूत्र टूटा और जो साहित्य रचा गया, वह जन भावनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति नही होकर नारो तक सीमित रह गया।

अमृत राय के अनुसार एक भूल यह भी हुई कि देश की परिस्थिति को और उसकी सामाजिक स्थिति को असलियत से अधिक क्रांतिकारी समझ लिया गया और उसके अनुरूप रचनाएं लिखी जाने लगी अर्थात् एक ओर जनता से सम्बन्ध का सूत्र टूट जाए और दूसरी ओर देश और समाज की स्थिति को असलियत से अधिक क्रांतिकारी समझ लेना इन दोनों स्थितियो ने मिलकर जहाँ नारे के साहित्य के सृजन के लिए जमीन तैयार किया, वही

---

1 वही

निष्प्राण रचनाओ के सृजन की परिस्थिति तैयार की। इन्ही कारणो से लेखको की एकता कायम नही रह सकी। जाहिर है प्रगतिशील लेखक सघ के बैनर के नीचे सघ नए लेखको को भी अपनी ओर नही खीच सका।[1]

अमृत राय का यह भी मानना है, ''सर्वहारा क्राति मे नारे के कारण केवल खेतिहर मजदूर और भूमिहीन किसानो को क्राति का सहयोगी और मध्यम और धनी किसानो को दुश्मन समझ लिया गया। इससे यह परिणाम हासिल हुआ कि किसानो की जिन्दगी से विषय चुननेवाला साहित्य हवा हो गया और गॉवो में किसानो के जन साहित्य की लहर हवा हो गई।''[2]

अमृत राय ने रामविलास शर्मा पर आरोप लगाया है कि उन्होंने तमाम लेखको को सुधारवादी संशोधनवादी कहकर रिजेक्ट कर दिया। 'श्री रामविलास शर्मा ने भी उसी तरह कूँची उठाई और काडवेल वगैरह सब साहित्यालोचकों पर एक सिरे से तारकोल पोत दिया- सब सुधारवादी हैं।'[3]

इस प्रवृत्ति ने साथी लेखको को डांटने-फटकारने, डराने-धमकाने और अनुशासन का डंडा दिखाने का रूप ले लिया। इससे मैत्री-सद्भावना का लोप-सा होने लगा, उसकी जगह आपसी कटुता और आपसी संदेहो ने ले ली। वातावरण मे भयानक घुटन पैदा हो गई और आजादी मे सांस लेना मुश्किल हो गया।...लोग डरे-सहमे मुंह पर ताला जड़े घूमते थे।[4]

तो उग्रवामपंथी संकीर्णतावाद से अमृत राय के अनुसार ऐसी ही भयानक परिस्थितियाँ उस दौर में प्रगतिशील लेखको के सम्मुख और प्रगतिशील लेखक संघ मे पैदा हो गई थी जिसके कारण वह न सिर्फ बिखर गया बल्कि नई परिस्थिति में उसे फिर से संगठित

---

1. 'वर्तमान साहित्य', (आलोचना के सौ बरस–1), पृ –217
2 'वर्तमान साहित्य', (आलोचना के सौ बरस–1), पृ –217
3 वही
4 वही

करना भी एक मुश्किल काम हो गया था अर्थात् सभी जनवादी, साम्राज्यविरोधी, सामतविरोधी लेखको का सयुक्त मोर्चा बनाना। जाहिर है कि इस मोर्चे को लेकर चली बहस मे घनघोर वैचारिक उठा-पटक हुई और वाद-विवाद हुआ।

रामविलास शर्मा[1] का मत था,''साहित्य मे संयुक्त मोर्चे का उद्देश्य स्वाधीनता और जनतंत्र है। इसलिए यह मोर्चा साम्राज्य विरोधी, सामंत विरोधी लेखकों का होना चाहिए। इसके संगठनकर्त्ता आलोचना के सैद्धांतिक स्तर को जितना ही ऊंचा करेंगे, जनता में घनिष्ठ सम्पर्क कायम करके उसके बारे मे लिखकर खुद मिसाल पेश करेंगे, अपने व्यवहार और विचारो में जितनी ही एकता पैदा करेंगे उतना ही संयुक्त मोर्चा के निर्माण में उन्हें सफलता मिलेगी।''

लेकिन अमृत राय ने राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की विशद व्याख्या करते हुए प्रगतिशील जनवादी, साम्राज्य विरोधी, सामन्त विरोधी लेखकों का संयुक्त मोर्चा बनाने की जरूरत पर बल दिया था। उनका मत था कि संयुक्त मोर्चे की जरूरत युद्ध और साम्राज्यवाद के खेमे के खिलाफ शान्ति और जनवाद के खेमे के समर्थन में है जिनमें दुनिया बँटी हुई है। राष्ट्रीय परिस्थिति में इस मोर्चे की जरूरत शोषण की शक्तियो के खिलाफ और शोषित जनता के पक्ष में वह बताते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य में संयुक्त मोर्चे के सवाल पर जो बहस चली, वह संगठन और लेखकों की भूमिका को लेकर तो बहुत तीखी और कई बार अत्यन्त उग्र रही पर सयुक्त मोर्चे की जरूरत को लेकर उसमें मतभेद नहीं के बराबर रहा। दरअस्ल, संयुक्त मोर्चे का प्रस्ताव उस दौर के प्रगतिशील लेखको का अपने संगठन को बिखरने से बचाने का तथा व्यक्तिवाद और कलावाद के बढ़ते प्रभाव से साहित्य और संस्कृति की रक्षा का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

---

1 रामविलास शर्मा, 'वर्तमान साहित्य' (आलोचना के सौ बरस–1), पृ.–218

(ख) कलात्मक मूल्य और विचारधारा :

साहित्य की दुनिया नैतिक मूल्यो की दुनिया है। आर्थिक प्रश्न हो, सामाजिक प्रश्न हो, राजनीतिक सत्ता का प्रश्न हो और चाहे धार्मिक-सांस्कृतिक प्रश्न हो, सर्जनात्मक कृतिकार उन्हे नैतिक मूल्यो के रूप मे ही देखता है। इसी से रचना को उसकी संवेदनशीलता मिलती है, जो जितनी ही सच्ची और गहरी होती है उतना ही अपने पाठक के मन का संस्कार करती है। दूसरे शब्दो मे, सर्जनात्मक रचना इसी अर्थ मे सर्जनात्मक होती है कि वह मूल्यो का सृजन करती हैं। साहित्य ऐसे ही मूल्यो का कोष होता है पर वे मूल्य दोनो ही प्रकार के होते हैं- कुछ जो आज भी उतने ही ताजा हैं, क्योकि समय आगे बढ़ आया है अर्थात् कुछ जो आज भी प्राणवान् और सार्थक हैं और कुछ जो मुर्दा रूढ़ियॉ बन चुके हैं। इसलिए इस मिली-जुली-सी पिटारी की एक-एक चीज को अपने विवेक की कसौटी पर कसकर देखना जरूरी होता है कि उसमे से क्या आज मुझे ग्राह्य है और क्या नही। यह खुद अपने करने का काम होता है। नित नये मूल्य या मूल्याभास, पुराने मूल्यो के नये चोले या उन पर लगाये गये नये हाशिये, सबके साथ यही बात है, सबको परीक्षा करके देखना पड़ता है।

यही बात विचारधाराओं की है, उनकी भी परीक्षा करनी पड़ती है। तब कही कइयों में से एक विचारधारा को आदमी अपने लिए चुनता है। लेकिन जब वह किसी विचारधारा को चुनता है तो इसका मतलब यह नहीं होता कि उसने सब कुछ पा लिया है या उसका आशय यह भी नही कि वह आँख मूँदकर उसका अनुसरण करे।

विचारधारा के प्रति यह विवेकशील दृष्टि नही है, भले वह कोई भी विचारधारा हो, क्योकि विचारधारा कोई गठरी नही है जिसे आप सिर पर ढोते फिरे, और मार्क्सवादी विचारधारा तो बिल्कुल नही; वह तो दिशा का संकेत देने वाली या बहुत हुआ तो मोटा-मोटा रास्ता बतलानेवाली एक मशीन है।[1]

---

1 'विचारधारा और साहित्य', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ.–109

लेकिन फिर जो तमाम ऊबड-खाबड गलियाँ दर-गलियाँ उससे फूटती हैं उन पर तो अच्छी तरह पॉव बचा-बचाकर खुद ही चलना पडता है। विचारो की यात्रा का यही जोखिम है और यही उसका आनन्द। विचारधारा इसी तरह अपने लिए उपलब्ध की जाती है और इसी तरह समृद्ध होती है। और जब व्यक्ति उसे अपने लिए स्वय उपलब्ध करता है तो फिर उसकी रक्षा के लिए तलवार भी उठाता है। आदमी से कही भूल भी हो सकती है लेकिन अगर कोई इस डर से खुद सोचना ही बद कर दे तो वह कुछ ऐसी ही बात होगी जैसे कोई गिर पड़ने के डर से चले ही नही और घुटना तोड़े दिन-रात अपनी खटिया पर पडा रहे। ऐसी परमुखापेक्षी विचारधारा कम ही सर्जनात्मक हो पाती है, क्योकि वह विवेक को बन्दी बनाती है। पर जो विचारधारा खुली आँखो, खुले मन से, अपने विवेक की कसौटी पर कसकर अपनायी गयी है और बराबर उसी जागरूकता के साथ बरती भी गयी है, अर्थात् जड मतवाद के रूप में नही, गतिशील जीवन-दर्शन के रूप मे, उससे विवेक सबल होता है, चिन्तन और सर्जना की नयी दिशाएँ खुलती हैं, उनको नये आयाम मिलते हैं।

सन् 1936 ई0 मे नागपुर मे 'भारतीय साहित्य परिषद' का अधिवेशन हुआ। उस सम्मेलन में क्रांतिकारी साहित्य लिखने के प्रस्ताव का विरोध अज्ञेय और बनारसीदास चतुर्वेदी की ओर से हुआ था। उनका कहना था कि क्रांतिप्रेरक साहित्य 'थोथा और निस्सार है।'[1] उनकी इस आलोचना का जवाब देते हुए अख्तर हुसैन रायपुरी[2] ने लिखा, "क्रांतिप्रेरक साहित्य का विरोध इस सबब से करना कि वह ऐसा साहित्य पैदा करने मे सहायक हो रहा है जो 'थोथा और निस्सार' है, मेरी समझ मे ठीक नहीं है। हमारे देश में क्रांतिप्रेरक साहित्य पैदा ही कब हो रहा है। 'कला कला' के नाम पर जो कविताएँ और कहानियाँ छपती हैं उनमे कुछ आत्मपूजकों की तुच्छ और रौंदी हुई आकांक्षाएं छिपी रहती हैं, जिनसे न जीवन के उच्च आदर्शों का कुछ संबंध है, न लोकजीवन के प्रत्यक्ष और जीवित सवालों

1 'प्रगतिवाद और समानातर साहित्य', रेखा अवस्थी, सन् 1978 ई0, पृ –11
2 विशाल भारत, जुलाई–1936 ई0

से कोई वास्ता। छिछला और निस्सार साहित्य इसलिए पैदा हो रहा है कि उसके निर्माता अपनी आत्मा से और जगत की आत्मा से अपरिचित हैं। वे घोघो की तरह 'स्व' की मोटी खाल मे लिपटे हुए हैं और उनके आस-पास एक विराट संसार सिसक-सिसक कर अपने आदर्श की ओर बढ रहा है। क्राति-प्रेरक साहित्य क्रांतिकारी आंदोलन के साथ पनपेगा और बढेगा। अभी यह नवशिशु है क्योंकि क्रांति की यह बिजली सुदूर अंतरिक्ष पर झिलमिला रही है।''

'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नामक लेख मे शिवदान सिंह चौहान[1] ने लिखा है, ''मैं यह बात विशेष अधिकार के साथ जाहिर कर देना चाहता हूँ कि यथार्थवाद और 'कला कला के लिए' वाले सिद्धांत के बीच मे न कोई साम्य है और न सम्बन्ध। 'कला कला के लिए' वाला सिद्धांत प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट (Kant) के 'अपने मे पूर्णता' (Thing in itself) का सा सिद्धांत है, जो कला को अन्य सामाजिक सम्बन्धों से अलग कर एकांत मे देखने की कोशिश करता है।''

जबकि हमारा साहित्यिक नारा 'कला कला के लिए' नहीं, बल्कि 'कला संसार के बदलने के लिए' है। इस नारे को बुलंद करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यिक का फर्ज है।[2]

कुछ विचारकों का मानना है कि वस्तु ही कला का सार है। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि कला के रूप की उपेक्षा की जाय।

इस प्रश्न पर जहाँ तक अमृतराय के विचारों का सम्बन्ध है वे कला की वस्तु और उसके रूप को अविभाज्य मानते हैं। अमृत राय[3] के अनुसार, ''दोनो मिलकर एक संघटित आत्मिक अनुभव की इकाई बनते हैं। जिसको कला अभिव्यक्त करती है। जहाँ आपने एक दूसरे से काटकर अलग किया वहीं आपने कला और कलाकार के इस अन्तस्संघटन को तहस-नहस कर दिया। उसके बाद फिर आप चाहे जितना कला के रूप का यशोगान करें

---

1 शिवदान सिह चौहान, 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता', विशाल भारत, मार्च–1937 ई०

2 वही

3 अमृत राय, सहचिन्तन, हस प्रकाशन, पृ –67

सब व्यर्थ है, क्योकि इन दोनो अविभाज्य तत्वो का विभाजन करके और उन्हे अलग-अलग कोठरियों मे बद करके आप पहले ही कला की हत्या कर चुके है। वस्तु और रूप के आंतरिक ऐक्य मे ही कला का प्राण होता है।''

अन्य प्रगतिशील रचनाकारो की तरह अमृत राय भी जहॉ एक ओर रूप तत्व को कला की रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अग मानते हैं, वही दूसरी ओर विशुद्ध रूपवाद का विरोध भी करते हैं। अमृतराय[1] के अनुसार, ''रूप का सार्थक प्रयोग वही है जो वस्तु के सजीव संदर्भ मे उसकी अभिव्यक्ति की विवशता से किया गया है। 'शुद्ध' कला के फेर मे 'शुद्ध' रूप के आविष्कार मे लगी हुई प्रयोगशीलता वन्ध्या सिद्ध होती है।''

जो साहित्यकार वस्तु और रूप के महत्व को अलग-अलग मानते हैं, उन पर टिप्पणी करते हुए अमृत राय[2] ने कहा है, ''मैं समझ रहा हूँ कि इस प्रकार की सीमा रेखा खीचना विपज्जनक है।...सृष्टि की रचना-प्रक्रिया तो संश्लिष्ट होती है और श्रेष्ठ कला वही है जिसमें सत, चित् और आनन्द ये तीनों ही तत्व अपना सामंजस्य पा लेते हैं पर इसमें सन्देह नही कि अलग-अलग ललित-सृष्टियों मे इन तत्वों की संतति या सामंजस्य में एक आनुपातिक भेद दिखायी पड़ता है। कही एक की प्रमुखता रहती है, कही दूसरे की।

''कला के रूप और वस्तु के संबंध की भी कुछ-कुछ स्थिति यही है। लेकिन अपनी दृष्टि को इस संबंध में अधिक से अधिक उदार रखते हुए भी कला और साहित्य के नाना रूपों मे इन तत्वो को लेकर जो परिणाम भेद या प्रकार भेद दिखायी पड़ता है, उसको पूरी तरह स्वीकारते और समटेते हुए भी कला सृष्टि के इस मौलिक सत्य को भुलाया नही जा सकता कि उसमें रूप और वस्तु की स्थिति देह और आत्मा जैसी होती है जिसे एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता और दोनो के चमत्कारिक मिलन से ही सृष्टि सम्भव होती है। वाक् और अर्थ सम्पृक्त रहते हैं।''

---

1 वही, पृ –72
2 वही, पृ 70

'कला कला के लिए' का नारा, जो सभवतः फ्रेच विचारक विक्तर कूजे के यहॉ से आया है (और कुछ अजब नही कि वॉल्टर पेटर ने, जिसके नाम से यह उक्ति प्रसिद्ध है, वही से इसको लिया हो) सौ बरस से ज्यादा पुराना नही है। वही नारा उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम दशक मे इंग्लैड मे ऑस्कर वाइल्ड और फ्रास मे बोदलेयर के रास्ते होते-होते इधर आकर, इन पिछले तीस-चालीस वर्षो मे, उस जगह पर पहुॅचा है जहॉ वह (साहित्यकार के सामाजिक दायित्व की स्थिति से भी आगे बढकर या, हमारी समझ मे पीछे हटकर) उसके सहज मानव संसर्ग या संपृक्ति को ही नकारने लगा है।[1]

कारण इसका जो भी हो- चाहे यह कि इस मशीन युग में आदमी भी मशीन का एक पुर्जा होकर रह जाता है, चाहे यह कि इसका अर्थतंत्र पूर्ण रूप से श्रम-विभाजन पर आधारित होता है जिसके चलते सबके कार्यक्षेत्र अलग हो जाते हैं और समाज सबको समेटकर चलने वाली एक इकाई के रूप मे छिन्न-भिन्न हो जाता है, और चाहे यह कि इस पूॅजीवादी समाज मे आदमी और आदमी के बीच के संबंध समाप्त हो जाते हैं और उनका स्थान केवल अर्थ के सबंध ले लेते हैं। यह स्थिति बहुत काम्य नही कही जा सकती कि साहित्यकार अपने मानव परिवेश को ही अस्वीकार करने लगे। इसी सॉचे या ढॉचे के भीतर खड़े होकर देखने पर स्थिति निश्चय ही बहुत भयावह दिखायी पड़ती है, कि जैसे किसी अंधी गली या अधे कुएँ में आ फॅसे हो जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नजर नही आता। लेकिन तभी साहित्यकार से यह अपेक्षा होती है कि वह अपने गहरे चिन्तन और प्रातिभ कल्पना के बल पर उस साँचे या ढाँचे से बाहर निकलकर मूल समस्या पर अपनी दृष्टि जमाए हुए किसी दूसरे सॉचे या ढाँचे की बात कर सकेगा और अगर वह दूसरा साँचा या ढाँचा किन्ही दूसरे कारणों से संतोषजनक नही लगता तो वह किसी तीसरे साँचे या ढाँचे की बात सुझा सकेगा। उसके ऊपर कोई प्रतिबध नही है, अगर है तो वह उसको अमान्य करता है क्योंकि वह सदा का विद्रोही है, अपने विचारों को बॉधनेवाला कोई चौखटा उसने कभी स्वीकार नही किया और न किसी धार्मिक-राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक सत्ता को अपने

---

1 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ –36

विचारो की दौड के लिए कोई सीमा-रेखा खीचने दी। क्योकि यही उसका असल काम है, उसका कॉटो का ताज जो उसे गौरव देता है। मानव स्थिति और मानव नियति के प्रश्नो के साथ निर्भय होकर मरते दम तक जूझते रहने की स्वाधीनता ही उसकी असल स्वाधीनता है, जो स्वय उसके लिए और उसके मानव समाज के लिए मूल्यवान है।[1]

और सच तो यह है कि स्थापित सत्ता या एस्टैब्लिशमेट का प्रकोप भी उसी साहित्यकार को सहना पडता है, सब तरह की बाधाएँ, सब तरह के अवरोध उसी के रास्ते मे बिछाये जाते हैं, क्योकि मानव स्थिति और मानव नियति के प्रश्नों को लेकर सत्य की अपनी खोज मे, अपने नये समाधानो और अपने नये मूल्यो की खोज में बार-बार उसकी टक्कर इसी एस्टैब्लिशमेट से होती है, जो अपने स्थापित स्वार्थों के हित में रूढ़ियो का पोषक और नयी उद्भावनाओं का शत्रु होता है। बाकी जो साहित्यकार इन भयंकर प्रश्नों से उपराम होकर, अपने परिवेश कटकर, अपने अहं के भीतर संपुटित हो गया और अपने एक छोटे से कोने में बैठकर आइना हाथ में लेकर अपने अहं की तुष्टि के लिए तरह-तरह की टेढ़ी-मेढ़ी नाटकीय मुद्राएँ बनाने को ही अपनी लेखकीय स्वाधीनता का चरमोत्कर्ष समझ बैठा, उससे किसी को क्या डर, बनाये जैसे भी जितने भी चेहरे बनाना चाहता हो, आखिर अपना ही चेहरा तो बना (या बिगाड़) रहा है, स्थापित स्वार्थों का तो कही कुछ नही बिगड़ता।[2]

इसलिए उधर से पूरी छूट है, ऐसी स्वाधीनता के लिए, बल्कि छूट ही नही कुछ प्रोत्साहन भी क्योकि ऐसी चेष्टाओं से थोड़ा दिग्विभ्रम तो फैलता ही है और उनके शिकंजे की पकड़ उसी अनुपात में और भी मजबूत हो जाती है। स्वयं उन साहित्याकारों को पता हो या न हो, सत्ताधारी उन स्थापित स्वार्थों को खूब पता है कि उन साहित्यकारो ने अपने सामाजिक संपर्क को काटकर अपने को कितना छोटा और दुर्बल और विपन्न कर लिया है, कि अब उनकी स्थिति समाज के निर्माता की नहीं विदूषक की होकर रह गयी है।[3]

---

1 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ –36–37

2 वही

3 वही

अमृत राय ने अपने जीवन के अतिम दौर मे उन सभी मूल्यो को नकारा हैं जिनके कारण खुद उनके मानसिक बुनावट मे समय-समय पर कुछ रूकावटे पैदा हुई है। लेकिन वास्तविकता यह है कि अमृत राय साहित्य मे सृजनशील कोमल मानवीय भावनाओ के पारखी रहे है इसीलिए जो भी जनवादी या सामाजिक सरोकार का साहित्य लिखा जा रहा था उसके सृजनशील कला पक्ष को नकार कर साहित्य के मूल्यो को एकागी नही बनाना चाहते थे इसीलिए वह दोनो पक्षो मे वैचारिक आदान-प्रदान के हिमायती थे और सामाजिक मूल्यो के नकारात्मक दृष्टि वाले भी जहाँ सामाजिक सरोकार से जुडते हो उन सबका एक मोर्चा बनाना चाहते थे। लक्ष्मीकांत वर्मा[1] ने सच ही लिखा है, "यदि उनके भीतर इन साहित्यिक और ऐस्थिटिक मूल्यो को सुरक्षित रखने की भावना न होती तो वह 'नई कहानियाँ' जैसी पत्रिका न निकालते।"

लेकिन एक विराट प्रश्न यह है कि साहित्य-सृजन के लिए विचारधारा की जरूरत है भी क्या? साहित्य-सृजन तो एक स्वाधीन स्वायत्त क्रिया है, अपने में सम्पूर्ण ; किसी के पास अपनी कोई विचारधारा हो या न हो, इससे क्या बनता-बिगड़ता है? क्या साहित्य में विचारधारा का प्रवेश होते ही साहित्य अपनी गरिमा खो देता है और निरे प्रचारवादी ढंग का लेखन बन जाता है?

अमृतराय[2] के मतानुसार विचारधारा न होने से ही साहित्य श्रेष्ठ और गरिमामय हो जाता है, ऐसा नही है। अगर ऐसा हुआ तब तो ढेरो कचरा साहित्य जो फुटपाथ पर मिलता है, वह बहुत ही श्रेष्ठ और गरिमामय होना चाहिए क्योंकि उसमे कोई विचारधारा नही होती, बस घटिया मनोरंजन की सामग्री जुटा दी जाती है। इसलिए अगर कोई कृति अच्छी नही है तो उसके लिए विचारधारा दोषी है, ऐसा कहने का हमारे पास क्या प्रमाण है? विचारधारा रखनेवाला साहित्य भी खराब हो सकता है और न रखने वाला साहित्य भी खराब हो सकता है। उसी प्रकार विचारधारा रखने से ही कोई साहित्य श्रेष्ठ नही हो जाता

1 लक्ष्मीकात वर्मा, 'हिन्दुस्तानी'–भाग–57, अक 3–4, पृ –167

2 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, पृ –64

और न रखने से ही कोई साहित्य श्रेष्ठ नही हो जाता। इसलिए कहना होगा कि विचारधारा का होना या न होना या किसी विशेष विचारधारा का होना साहित्य की श्रेष्ठता का स्वतः प्रमाण नही है – प्रमाण तो हर हालत मे कृति ही होती है, और उसकी श्रेष्ठता को जॉचने-परखने की कसौटी एक ही है, वही जो ससार के श्रेष्ठतम साहित्य के भीतर बैठकर, मुख्यतः आस्वादन के धरातल पर, आहरित की गयी है।

फिर यह भी उतना ही सच है कि जहॉ रचनाकार को सचेतन रूप से अपनी विचारधारा का पता नही भी होता वहॉ भी विचारधारा रहती है। अमृत राय[1] के शब्दो में, "सचेतन रूप मे विचारधारा का प्रवेश न किये जाने पर भी रचना में अनजाने ही उसका समावेश हो जाता है – इसलिए कि सुंदर रचना में वह विचारधारा के रूप मे नही आती, संवेदना बनकर आती है और प्रसंगतः आती है, रचनाकार की मानवीय प्रतिक्रिया के रूप मे। (जिसे हम मानवतावादी विचारधारा कहकर जानते हैं वह ऐसी ही विचारधारा है।) जहॉं विचारधारा शुद्ध विचारधारा के रूप में रचना के ऊपर थोपी हुई लगे वहॉं यही समझना चाहिए कि रचना असफल रही और रचनाकार असफल रहा।"

रचनाकार की इस असफलता के पीछे यह कारण हो सकता है कि या तो विचारधारा रचनाकार की सच्चे अर्थों में अपनी विचारधारा नहीं बन पायी है, उसने उसको अच्छी तरह जॉचा-परखा नही है, केवल ओढ़ लिया है उसको, इसलिए उस पर न तो उसके विवेक का स्वाक्षर है और न उसकी संवेदना का ; या रचना के भीतर उसका जो जीवन-अनुभव बोल रहा है, रूपायित हो रहा है, वही कच्चा है, अप्रमाणिक है ; या फिर उसके पास अभिव्यक्ति का सामर्थ्य कम है।

अमृत राय[2] के अनुसार, "विचारधारा का न होना भी एक विचारधारा है।"

मार्क्सवाद से जुड़ा हुआ सौन्दर्यशास्त्री वैज़क्वेज अपनी पुस्तक 'आर्ट ऐंड सोसायटी' मे कहता है, "मार्क्सवाद की ऐसी स्थापना है कि कलाकार की सामाजिक और ऐतिहासिक

1 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, पृ –64
2 वही, पृ –65

स्थितियाँ उसकी मानसिकता को बनाती है और यह कि उसकी विचारधारा की एक विशेष भूमिका होती है जो कभी-कभी उसके रचना-कर्म की नियति को भी प्रभावित करती है, लेकिन इसका हरगिज यह मतलब नही है कि किसी कलाकृति मे केवल उसकी वैचारिक सामग्री देखी जाय कि जैसे वह कलाकृति बस उतनी ही है। और इससे भी कम औचित्य तो इसमे है कि किसी कलाकृति के सौन्दर्यपरक मूल्य और उसके वैचारिक मूल्य को बराबर मान लिया जाय। ...कला की विशेषता को केवल उसकी विचार-वस्तु मे देखना इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा करना है कि वर्गीय विचारधाराएँ तो आती हैं और चली जाती हैं मगर सुंदर कला स्थायी रही आती है। अगर कला की विशिष्टता ये है कि वह देश-काल की वैचारिक सीमाओ को, जिनमे उसका जन्म हुआ था, लाँघकर सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो जाने की क्षमता अपने भीतर रखती है, जिस कारण, ही यह संभव हो पाता है कि यथार्थतः समाजवादी समाजो मे रहने वाले लोग ग्रीक, मध्यकालीन और रिनेसेस कालीन कला के साथ सह-अस्तित्व कर पाते हैं, तो इसका मतलब है कि कला का मूल्य बस उसकी विचारधारा –और उसके विशेष तत्वों, उसके यहाँ और अबतक सीमित कर देना कला के सारतत्व के साथ विश्वासघात करना है।''[1]

वैज़क्वेज यह भी लिखता है, "कला के सर्जनात्मक सार-तत्व का सिद्धांत निर्द्वन्द्व-निरपेक्ष नहीं है। वह कलात्मक सृजन और सामाजिक परिवेश-संभूत उसकी सामाजिकता (सोशल कंडिशनिंग) के पारस्परिक द्वंद्वात्मक संबंध में से पैदा होता है। अगर हम उस संबंध को ठीक-ठीक समझ लें तो हम दोनों पिपज्जनक अतिवादों से बच सकेगे-एक ओर समाजशास्त्रीयता जो कला की अपनी विशिष्ट और अपेक्षया स्वायत्त प्रकृति की उपेक्षा करती है और दूसरी ओर सौन्दर्यवादिता जो उसे एक पूर्णतया निरपेक्ष और स्वायत्त क्रिया समझती है।''[2]

लेकिन अमृत राय वैज़क्वेज की इस मत से असहमति व्यक्त करते हैं और इसे साहित्य की अतिसरलीकृत, सपाट 'समाजशास्त्रीय' समझ बताते हुए इसे फूहड़ता की संज्ञा देते हैं।

1 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, पृ –66

2 वही, पृ –67

इस मत के बारे मे अमृत राय ने इतना तक कहा है, "साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टि का और इसी नाते हमारे साहित्य-आन्दोलन का बडा अनिष्ट किया है।"[1]

एगेल्स के इस सिद्धात के आधार पर कि सोद्देश्यता कला के स्वभाव मे निहित है, लेनिन कला और साहित्य के वर्ग-स्वभाव और उनकी वैचारिक और सामाजिक भूमिकाओ पर विशेष बल देता है। मार्क्सवाद के उदय के बाद जब समाज को रूपातरित करने की प्रक्रिया का सामाजिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य स्पष्ट हो जाता है, तब जो कलाकार अपने सृजनात्मक कर्म को क्रांतिकारी आंदोलन से जोड़ना चाहता है वह सचेतन रूप मे उस परिप्रेक्ष्य को अपना लेता है और अपने सृजनात्मक कर्म को क्रांतिकारी संघर्ष से मिला देता है।

एंगेल्स ने लिखा था, "मैं समझता हूँ कि पक्षधरता या एक विशेष पक्ष की ओर झुकाव कथानक की स्थितियों और चरित्रों के कार्यकलाप या घात-प्रतिघात में से निकलना चाहिए, इस तरह नही कि लेखक पुस्तक में चित्रित सामाजिक संघर्षो के भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के ऊपर थोपे।...रचनाकार के अपने मत जितने ही अप्रकट रहें, कलाकृति के लिए उतना ही अच्छा।"[2]

साहित्य की सोद्देश्यता का सिद्धांत अपनी जगह पर ठीक है पर उसका यह मतलब नही है कि सोद्देश्य साहित्य के नाम पर ऐसे साहित्य को प्रोत्साहित किया जाय जो साहित्य ही नही है, भोंडा प्रचार है।

सच तो चह है कि हर महान् कलाकार जीवन-यथार्थ के किसी सत्य का उद्घाटन करते समय अपनी वैचारिक सीमाओं को पीछे छोड जाता है। वैसे ही जैसे, प्रेमचंद अपने उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में जमीन्दारों और किसानों के परस्पर संबंधों की भयंकर वास्तविकता का, जिसमें एक ओर जमीन्दार का अत्याचार और आतंक है तो दूसरी ओर किसानों के भीतर उबलता हुआ आक्रोश, चित्रण करते समय अपनी उस समय की गांधीवादी विचार-सीमाओ को पीछे छोड़ कर उस पर किसी तरह का गांधीवादी मुलम्मा चढ़ाये

1 वही

2 वही, पृ-69

बगैर, उसको अपनी उसी भयकरता मे चित्रित करता है, यहॉ तक कि उसकी कथा का अत भले गाधीवादी हृदय-परिवर्तन के साथ और प्रेमशंकर द्वारा जमीन किसानो के नाम लिख दिये जाने से होता हो, वह सब झूठा लगता है और सारे उपन्यास में वह एक ही दृश्य पाठक के मानस पटल पर सबसे गहरी रेखाएँ छोड़ जाता है जिसमे मनोहर और बलराज जमीन्दार के जल्लाद कारिन्दे गौस खॉ का वध करते हैं जो एक स्तर पर गाँधीवादी विचार-दर्शन का वध भी है।[1]

इसमे तो सदेह नही कि कला भी ज्ञानात्मक होती है, वह भी ज्ञान है। लेकिन कला और साहित्य किसी वस्तु का ज्ञान उस रूप में नही प्राप्त करते जैसे कि विज्ञान करता है या दर्शनशास्त्र करता है। वनस्पतिशास्त्री जब किसी पेड़ को देखता है तब वह उसका ज्ञान जिस रूप मे प्राप्त करता है, उसका वह जानना किसी कलाकार या साहित्यकार के जानने से भिन्न प्रकार का होता है। अमृत राय[2] के शब्दों मे, "कला हर वस्तु का मानवीकरण कर देती है। उसके लिए अमानवीय वस्तुओं का अस्तित्व अपने आप में नहीं बल्कि मनुष्य के साथ उनके सम्बन्ध में होता है।" कला मानवीय संबंधों को उनके सामान्य रूप में नही बल्कि विशिष्ट, वैयक्तिक रूप में देखती है।

ज्ञान और विचारों की सम्पत्ति रूप की अनिन्द्यता की, कला की दक्षता की माँग करती है, क्योकि दक्ष कला ही उसको ठीक से अभिव्यक्ति दे सकती है। महान् जीवन्त सत्यों को अभिव्यक्ति देने की क्षमता ही कला है। यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि कोई लेखक, अगर उसके पास अच्छी टेकनीक है तो वह झूठ को सच कहकर पेश कर सकता है। झूठ झूठ ही रहेगा चाहे उसको पेश करनेवाला कोई महान् लेखक हो, चाहे नौसिखिया।

अमृत राय[3] के शब्दों में, "वह कला, जो महत्त्वपूर्ण विचारों का माध्यम नही है, पाखण्ड है। उसी को रूपवाद का नाम दिया जाता है; यानी निरी भूसी, जिसके अन्दर अनाज का दाना नही है, टेकनीक के लिए टेकनीक।"

---

1 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, पृ –70

2 वही, पृ –74

3 अमृत राय, नयी समीक्षा, पृ –339

वास्तव मे कला की सच्ची दक्षता विचार को अस्पष्ट नही बनाती बल्कि उसे उभारती है, जैसे कि फोटोग्राफी का डेवेलपर आकृति को।

अमृत राय[1] का मानना है कि यही कलाकार के पास अपने काम का मूल्य ऑकने की एक व्यावहारिक कसौटी है। अगर आपको रूप मे दोष दिखायी दे तो वस्तु मे उन्ही दोषो को खोजिए। अगर आपकी कलात्मक अभिरुचि किसी दृश्य को मानने से इनकार करती है जिसमे कि किसी की मृत्यु हुई है तो इसका मतलब है कि वह व्यक्ति मरा नही। यानी लेखक को उसके मरने की अनुभूति नही हुई। यानी कलाकार के रूप मे उसने इस मृत्यु को अनुभव नही किया। अगर किसी चित्र मे अंकित सूर्यास्त मे आपका विश्वास नही जम पाता तो इसका मतलब है कि वह सूर्यास्त नही है।''

(ग) अनुभव और विचारधारा :

अनुभव और विचारधारा के ताल-मेल को लेकर विभिन्न प्रगतिशील लेखको में गहरे मतभेद रहे हैं। इस मतभेद की शुरूआत सन् 1946 ई0 मे प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान[2] के लेख 'साहित्य की परख' से हुई। ''प्र.ले.सं. के अंदर 'साहित्य की परख' से तीव्र विवाद की शुरूआत हुई। अब तक 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' लेख पर किसी ने आक्रमण नही किया था। अब उसे आधार बनाकर (तथा अन्य मुद्दो पर भी) मेरा विरोध शुरू हुआ।''

अपने लेख 'साहित्य की परख' मे शिवदान सिंह चौहान[3] ने विचारधारा की बनिस्बत अनुभव को ज्यादा महत्त्व दिया। इस बात को स्पष्टतः स्वीकारते हुए उन्होने लिखा है, ''साहित्य की परख' से जो विवाद शुरू हुआ, उसमे मेरा बल संकीर्णता व विकृत समाजशास्त्रीयता के विरूद्ध लेखन की सापेक्ष स्वायत्तता एवं विषय को जज्ब कर सच्ची

---

1 वही, पृ-340

2 शिवदान सिह चौहान, 'सिहावलोकन', 'अभिप्राय'-24-25, पृ-7

3 वही, पृ-8

प्रेरणा से लिखने पर था। मै सृजनात्मक लेखक और पार्टी-प्रचारक मे अतर तब भी मानता था, अब भी मानता हूँ। इस अतर पर मैने बल दिया। पार्टी से लेखक संघ की स्वायत्तता एव लेखन की प्राथमिक प्रतिबद्धता पर जोर देने की पृष्ठभूमि मे वे दिक्कते थी, जो मै बतौर प्रलेसं सचिव के महसूस करता था। पार्टी के नेता, साहित्य की अपनी प्रकृति के प्रति सवेदनहीन रहते हुए स्थूल व तात्कालिक यथार्थवादी लेखन की मॉग करते थे, यह बात मुझे परेशान करती थी। यह प्रवृत्ति बहुत बाद तक (शायद आज तक भी) जारी रही है। सन् '64 ई० के बाद का वाकया है। एक रोज एक बैठक मे डॉगे, एन. के. कृष्णन, डॉ. अलीम और मैं मौजूद था। डॉगे ने इस बैठक मे, एकदम स्पष्ट शब्दों में हड़ताल कराने वाले साहित्य की मॉग की थी।''

वस्तुतः अनुभव साहित्यकार और पाठक में अंतर करता है। सबसे बड़ा अंतर तो यही है कि एक की अनुभूति गूँगी है और दूसरे के पास उसके लिए वाणी है; एक का जी मसोसकर रह जाता है, वह कुछ कह नही पाता, दूसरा उसे कह लेता है। इसी अर्थ में साहित्यकार उस दूसरे सामान्य जन की तुलना में विशिष्ट है, कि उसके पास एक विशेष क्षमता है जो दूसरे के पास नही है। और यह क्षमता केवल वाणी की क्षमता हो, ऐसी भी बात नही; इससे भी बड़ी बात यह है कि साहित्यकार अधिक अंतर्दृष्टि संपन्न व्यक्ति होता है। दूसरे आदमी की नजर जहाँ कुछ ऊपरी बातो में उलझ कर रह जाती है, साहित्यकार की नजर उनकी तह मे पैठती है या पैठने की कोशिश करती है; दूसरा आदमी जहाँ वस्तुओं को या घटनाओ को अलग-अलग इकाइयों में ही देखने का आदी होता है, साहित्यकार उन्हे उनके अन्तस्संबंध में भी देख पाता है। तीसरी बात, उसके पास वह सर्जनात्मक प्रतिभा होती है जो अनुभूति के कच्चे माल को उसके अनुरूप आकार मे ढाल लेती है–जिसमें ही उस अनुभूति की गहनतर, सूक्ष्मतर, सघनतर पहचान और फिर उसको लिपिबद्ध करने की क्रिया में उसका रूप-विपर्यय भी निहित होता है।

लेकिन अमृत राय[1] के शब्दों मे, ''साहित्यकार के मन की ये तीनों विशेष क्षमताएँ,

1 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', हस प्रकाशन, पृ –51

जिन्हे ही एक मे जोडकर उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा कहा जाता है, उसके साहित्य-कर्म से सबंध रखती है, उसकी जीवन-स्थिति से नही, वहॉ पर वह भी उसी धरातल पर खडा होता है जहाँ दूसरे सब लोग खडे हैं। और इस बात को कहने की जरूरत है।''

यह धरातल वही है जहॉ पर वह व्यक्ति भी है और समष्टि का अंग भी है। दोनो मे कोई विरोध नही है और न उनके बीच लक्ष्मण-रेखाएँ खीचना संगत है। साहित्यकार और उसके कर्म की रोमांटिक परिभाषा में से ही ये लक्ष्मण-रेखाएँ निकलती हैं, और साहित्य का इतिहास हमे बताता है कि प्रस्तुत देश-काल में आदमी जो जिन्दगी जी रहा है उसको नकारने वाली यह शुद्ध कलावादी दृष्टि अकसर ऐसे ही समय में सामने आती है जबकि समाज अपने किन्हीं महत् जीवन-मूल्यों से लक्ष्य भ्रष्ट होकर भटकने लगता है, टूटने और बिखरने लगता है; जबकि सामाजिक जीवन में ऐसी कोई स्फूर्तिदायिनी क्रियाशीलता नही बचती जो मूल्यपरक हो और अधिकाधिक लोगों को अपने साथ समेटकर साहसपूर्वक एक ऐसे रास्ते पर चल रही हो जो कि मात्र सांसारिक सफलता का रास्ता नहीं है बल्कि सबसे पहले किसी नये मूल्यबोध को जीवन मे चरितार्थ करने का रास्ता है।[1]

अमृत जी केवल कुर्सी पर बैठ कर लिखने और सोचते रहने वाले नहीं थे, जनता से व्यावहारिक लगाव कायम करने के लिए वे घूमते भी रहे। सन् 1966 ई0 में बिहार के भयानक अकाल के समय पीड़ित जनता की व्यथा देखने और महसूस करने के लिए वे बिहार गये। उन्होंने गया और जमुई इलाके के गांवों में जा कर जनता की दुर्दशा को अपनी आँखें से देखी। और पटना मे संवाददाता सम्मेलन बुलाकर अकाल-पीड़ितो की स्थिति का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया।[2]

साहित्य को जनजीवन और जनचेतना से जोड़कर अमृत राय एक तरह से प्रेमचंद की परम्परा का ही विकास कर रहे थे। लेकिन मार्क्सवाद का वैज्ञानिक आधार और फ्रेमवर्क

---

1 वही, पृ–51–52
2 'अब'–21, पृ–16

उन्हे प्रेमचद वाले अनेक भ्रमो और मोहो से मुक्त रखता है। आलोचक मधुरेश[1] के अनुसार, "प्रेमचद अत तक सम्मिलित परिवार के प्रति अपने मोह को छोड़ नही सके। अमृत राय इसे एकदम शुरू मे ही समझ लेते है कि सम्मिलित ररिवार की यह अवधारणा अपनी सार्थकता खो चुकी है। बेशक प्रेमचद और अमृतराय के बीच फैले समय की भी इसमे महत्वपूर्ण भूमिका थी। 'बीज' के अतिरिक्त अपनी अनेक कहानियो मे वे कैसी भी कटुता और वैमनस्य को बचाकर अलग हो जाने को ही श्रेयस्कर समझते हैं। इस कटुता को पाले रहकर एक-साथ रहने के ढोग के बजाय माँ-बाप या भाइयो से अलग रहकर अधिक मधुर, आत्मीय और संवेदनशील व्यवहार संभव है। अमृतराय इस ऐतिहासिक सच्चाई को स्वीकारने में देर नही लगाते और इतिहास के विरूद्ध खड़े होने की कोई कोशिश नही करते। अपने निजी जीवन में भी उन्होने भरसक इस पर अमल किया।"

लेकिन कथाकार मार्कण्डेय[2] ने लिखा है, "भावुकता और यथार्थ के द्वन्द्व ने अमृत राय को ऐसे अंतर्विरोधों मे उलझा दिया था, जिसे वे जीवन पर्यन्त सुलझा नहीं पाये और इसका सबसे बुरा असर पड़ा उनकी रचना पर, जो अंत तक पहचान विहीन ही बनी रह गयी। ऐसा नही कि अमृत राय ने प्रयत्न कम किया, उन्होने जमकर लिखा। अपनी हर रचना पर वे इतने मुग्ध हो जाते थे कि स्वयं अपनी पीठ तब तक थपथपाते रहते, जब तक कि आलोचक उसे एक सामान्य रचना करार नहीं दे देते थे अथवा चुप्पी नहीं साध लेते थे। कल्पना और यथार्थ के मेल से कथा-शिल्प की संरचना तो हो सकती है, लेकिन गगन विहार और जीवन की सच्चाइयों की कठोर भूमि का कार्य-कलाप एक साथ कैसे चलेगा और जो इसे चलाने का प्रयत्न करेगा, उसे अमृत जी की तरह सच और झूठ के अन्तर्द्वन्द्व मे झेलते रहना पडेगा।"

आज सुनने मे कुछ अजीब लगेगा लेकिन उस संधिकाल में, जब भारत आजाद ही हुआ था और उस नयी परिस्थिति और परिवेश मे प्रगतिशील साहित्य एक नये मोड की

---

1 मधुरेश, 'यह जो आईना है', रामकृष्ण प्रकाशन, सन् 2000

2 मार्कण्डेय, 'हिन्दुस्तानी', भाग-54, अक 3-4, पृ -172

और अग्रसर हो रहा था। इतना ही नही, नये लोग प्रगतिशील परम्परा की पूरी समीक्षा भी करना चाहते थे। वे कुछ ऐसी बाते भी कर रहे थे जो पुराने प्रगतिशीलो की समझ मे नही आ रही थी। वे अपनी प्रतिश्रुति की सामाजिक, राजनैतिक सदर्भो के यथार्थ से सम्पृक्ति की बात उठा रहे थे। इस नये विकास को देखकर हतप्रभ रह जाने वालों मे प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, भैरव प्रसाद गुप्त आदि के साथ अमृत राय का नाम शायद पहले ही लिया जाना चाहिए। वे उन दिनो चकित होकर बहुत कुछ कर रहे थे, जैसे कोई अस्तित्व की लडाई लड रहा हो। मसलन 'हंस' का प्रकाशन और वह भी उस बिखरी और पिटी हुई पीढ़ी की समझ के साथ। कल्पना यह करना कि इनको एक जगह इकट्ठा करके उस बिखरे हुए आंदोलन को फिर से खड़ा किया जा सकता है। अर्थ यह है कि जो नया विकास हो रहा था, सामाजिक संदर्भो मे जो परिवर्तन लक्षित हो रहे थे, अथवा आजादी के बाद यथार्थ की जो नयी अवधारणाएँ उभर रही थी, उस पर कोई सार्थक बहस न कर, ये लोग अपने ही लोगों पर तलवारें भॉज रहे थे। रामविलास शर्मा अमृत राय पर, अमृत राय यशपाल पर, यशपाल अमृत राय पर–गरज़ कि एक ऐसा वाक्युद्ध छिड़ा हुआ था कि इन लोगों के बीच साधारण बोलचाल और मित्रता के संबंध भी समाप्त हो चुके थे। लेकिन इस दौर की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि नये लोगो ने इनकी ओर से एकदम आँखें फेर रखी थी। साथ-साथ बैठने के बावजूद, यह एहसास नयी पीढ़ी के मन में घर कर गया था कि इन लोगों में बदलाव की क्षमता सर्वथा नष्ट हो चुकी है। समसामयिक परिस्थिति और परिवेश के अनुसार निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया की मूल यथार्थवादी दृष्टि को अपनाने में बने-बनाये सिद्धांतों का राजनीतिक दबाव आड़े आता था। उसे अस्वीकार कर पाना, शायद इन लोगों के लिए संभव नही रह गया था।[1]

'हंस' के उन अंकों में, जो अमृत राय के संपादकत्व में (सन् 1942 ई0 से '52 ई0 तक) निकले थे, प्रगतिशील लेखक संघ की कई विचारोत्तेजक बहसें दर्ज हैं और वह दर्द भी-जो कई बार अपने वैचारिक खुलेपन के लिए अमृत जी को डॉ. रामविलास शर्मा

---

1. मार्कण्डेय, 'हिन्दुस्तानी', भाग–57, अक 3–4, पृ–175

जैसे अपने ही साथियो से उपहार मे मिलता रहा। सन् छियालीस ई0 के 'हस' के एक अक मे सपादकीय टिप्पणी का शीर्षक था-'अपने ही देश मे हम परदेशी है।' डॉ राजेन्द्र कुमार[1] ने साधिकार लिखा है कि इसके दो वाक्य पढ लीजिए , आपको न केवल यह पता लग जाएगा कि उस वक्त चल रही बहस के दो मूल बिंदु क्या थे, बल्कि आप यह भी जान लेगे कि अमृत राय पूरी दृढ़ता से किस बिन्दु पर डटे थे : "रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे अनुभूति का ही खरा सिक्का चलता है। कोरे वाद पीछे छूट जाते हैं, वादो को भी अनुभूति के माध्यम से आना पडता है।"

'नई कहानियॉ' तक आते-आते प्रगतिशील लेखन की सतह के कई प्रश्न उसके इतिहास की तलहटी मे थिराकर बैठ चुकते हैं। लेकिन प्रतिबद्धता और सहजता के रिश्ते का सवाल अभी भी प्रासंगिक है और 'नई कहानियॉ' जब अमृत राय के हाथो में आती है तो वे इस सवाल को रेखांकित करने में भी उतने ही चौकन्ने मिलते हैं। मुस्तैदी यहाँ भी वैसी ही बरकरार है।

अमृत राय शिविरबद्धता के व्यामोहो से मुक्त होकर और लेखक की रचनाओं में से उभरने वाले विवेक को परखने के हिमायती थे। स्वयं अमृत राय[2] का यह आत्मकथ्य स्मरणीय है, "मेरा मन जैसा कुछ बना था, वैसी शिविरबद्धता मेरे लिए कभी संभव नही हो पाई। पर इसका मुझे कोई खेद नहीं है, क्योकि मुझे लगता है कि अंततः अपना विवेक ही सबसे अच्छा जीवन-सहचर होता है।"

इस निष्कर्ष तक पहुँचने के पीछे जो कारण रहे हैं, वे अमृत राय[3] के शब्दों में यो हैं, "सन् 1942 ई0 मे एम.ए. करके जब मैं प्रयाग से काशी पहुॅचा तब यह संपर्क और गहरा हुआ, मैं पार्टी का काम करने लगा और सन् 1943 ई0 के आरंभिक दिनों में कभी मुझे पार्टी की सदस्यता मिली। 'हंस' का संपादन तो मैं कर ही रहा था, स्थानीय

---

1 डॉ राजेन्द्र कुमार, 'हिन्दुस्तानी', भाग–57–, अक 3–4, पृ–183
2 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, 984 पृ–19
3 वही, पृ–19–22

प्रगतिशील लेखक संघ का मत्री भी था और मजदूर आंदोलन से जुडे होने के कारण एक स्थानीय मजदूर यूनियन का भी मंत्री था। मेरा वही 43 से 50 तक का जीवन-अनुभव, जिसमे कुछ महीनो का जेल-प्रवास भी शामिल है, मेरे 'बीज' उपन्यास और 'परजाते के फूल' जैसी कहानियो मे रूपायित हुआ है। लेकिन यही पर यह बतला देना भी जरूरी है कि पार्टी का सदस्य रहते हुए भी, सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश, मै अपने ढंग से, कुछ अलग-अलग सा भी सोचता ही रहा और शायद इसका कुछ मूल्य भी मुझे चुकाना पडा, क्योकि सामुदायिक चिन्तन प्रकृत्या शिविरबद्धता मॉगता है और मेरा मन जैसा कुछ बना था वैसी शिविरबद्धता मेरे लिए कभी संभव न हो पायी। .मुझे खुशी है कि मैंने यथाशक्ति आजीवन अपने विवेक को मुक्त रखा। कोई चाहे तो इसको मेरी वैचारिक स्वच्छंदता भी समझ सकता है...पर मैं ऐसा नही समझता क्योंकि आत्मानुशासन नाम की भी एक चीज होती है, जिससे कड़ा अनुशासन शायद दूसरा नही होता।''

अमृत राय[1] का मानना है, ''जीवन के अन्य व्यापारों मे जो भी होता हो, मैं नही जानता, विचार के क्षेत्र मे, साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे, केवल अपने जीवन-अनुभव, अपने अध्ययन और अपने बुद्धि-विवेक के खरे सिक्के से काम चलता है–यहॉ परप्रत्ययनेय बुद्धि केवल वैचारिक और सर्जनात्मक पक्षाघात की और ले जा सकती है। जब-जब और जहाँ-जहाँ अंधानुसरण की ऐसी कोई नीति बरती या अपनायी गयी है, विचार मर गया है, साहित्य मर गया है, केवल परिपाटी का रूढ़िबद्ध लेखन हुआ है।''

यह बात प्रामाणिक रूप से कही जा सकती है कि मार्क्स ने मानव समाज के सर्वांगीण विकास को उसके आर्थिक विकास से जोड़कर अर्थात् उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व से और उत्पादन के साधनो और उत्पादन के संबंधों के अंतर्विरोध और उसी में निहित वर्ग-संघर्ष से जोड़कर देखा और फिर उसे जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों मे शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में फैलते हुए दिखाया। लेकिन अमृत राय[2] के मतानुसार, ''यह ठीक

---

1 वही, पृ –21
2. वही, पृ –29

है कि मानव समाज के इतिहास के अध्ययन से उसने पाया कि समाज के विकास का आधार आर्थिक है, पर मै कहना चाहता हूँ कि उसकी इस खोज की प्रेरणा अर्थशास्त्र के एक नये सिद्धांत का आविष्कार करने मे नही, उसकी मानवीय संवेदना मे है। उसकी मूल चिन्ता अर्थशास्त्र नही आदमी है, आदमी का दुख-दर्द है। मानव जाति कही पर बुरी तरह व्याधिग्रस्त है, उसकी यह व्याधि क्या है, उस व्याधि का उपचार क्या है, कैसे उसका अभिशप्त, विकलांग जीवन स्वस्थ बने, पूर्णतर बने, उसकी चिन्ता की जड़ यहाँ पर है।''

आम तौर पर, साहित्य-जगत् मे मार्क्सवादी चिन्तन का जो आशय ग्रहण किया गया है, उससे अमृत राय[1] असहमत होते हुए लिखते हैं, ''शिकायत मुझे अपने साहित्यकार और मार्क्सवादी साहित्यकार बंधुओं से है...जाने कैसे उन्होने भी बहुत बार यह समझ लिया कि मार्क्स की सबसे बड़ी और शायद अकेली चिन्ता यह है कि आदमी की आर्थिक उन्नति कैसे हो, जबकि वास्तविकता यह है कि मार्क्स की चिन्ता इससे कहीं अधिक गहरी और व्यापक है। वह केवल आदमी की आर्थिक उन्नति की बात नहीं सोचता, उसके संपूर्ण चारित्रिक उत्कर्ष की बात सोचता है।''

अमृत राय आँखें मूँदकर समाजवाद की वकालत नही करते हैं। उनका मानना है कि समाजवाद आया, रक्ताक्त क्रांति मे होकर आया और एक नये युग की सूचना देता हुआ आया। मगर अमृत राय[2] ने प्रश्न खड़ा किया है–उसने भी क्या किया? यही न कि सबको दो जून रोटी का बंदोबस्त कर दिया, रहने के लिए कोठरी दे दी, तन ढाँकने को लुगड़ी दे दी। मगर उसकी कीमत क्या थी, कभी यह भी सोचा? इन्सान की रही-सही आजादी भी छिन गयी। मनुष्य की आत्मा को जंजीरों में जकड़ लिया। उसकी चेतना को मुमूर्षु कर दिया। उसके विवेक को अंधा कर दिया। रोटी के दो टुकड़ों के बदले मनुष्य से उसकी वही चीज छीन ली जो उसको पशु से अलग करती है, अर्थात् उसकी बुद्धि, उसका विवेक! पूँजीवादी देशों में कुछ न सही, अपनी बात कहने की तो आज़ादी है, कम से कम इतना

1 वही, पृ.–74

2 अमृत राय, सहचिन्तन, हस प्रकाशन, पृ –22

तो है कि लेखक जो मन चाहे लिखे, चित्रकार जैसी चाहे तस्वीर बनाये। समाजवादी देशों मे तो वह भी नही। उन्होने तो सब को खाकी वर्दी पहना दी है और सब के मुँह पर ताला जड दिया है। बोल नही सकते। रोटी लिये जाओ। बोलना भर मत वर्ना यह देखो यह बदूक है, इसमे गोलियॉ भरी है और तुम्हारे लिए बस एक गोली काफी होगी। तुम बोलोगे वही, लिखोगे वही, ऑकोगे वही, गाओगे वही जो हम तुम तुम्हारे नेता कहेगे क्योकि उसी मे हमारे देश का, हमारी क्रातिकारी विचारधारा का, हमारी पार्टी का हित है, आदि-आदि इत्यादि। उसी का तो नतीजा है कि उनके यहॉ से ऐसा फैक्टरी मे ढला हुआ साहित्य आता है, बिल्कुल यात्रिक, नीरस, निष्प्राण। और मजा यह कि बहुसख्यक जनसमाज ने बिना किसी ननुनच के यह स्थिति भी स्वीकार कर ली है। इसका क्या उपाय है, मनुष्य की इस सहज पशुधर्मिता का?

अमृत राय[1] के शब्दों में, "समाजवादी देशो मे अपेक्षित व्यक्ति-स्वाधीनता नही है, मैं भी यह बात मानता हूँ। वहॉ की जो कला और जो साहित्य हमारे सामने आता है उससे भी अनेक बार मन खिन्न हो जाता है क्योकि अधिकतर वह किसी आजमाये हुए नुस्खे पर तैयार होता है और इसीलिए पढ़नेवाले के मर्म को छूने की शक्ति उसके अंदर नही होती। इस बात से कोई फर्क नही पड़ता कि नुस्खा किसी ने लाकर उसके हाथ में पकड़ा दिया या उसने खुद वातावरण से समझौता करते हुए अपने मन से वह नुस्खा गढ़ लिया। नुस्खा अगर किसी ने लाकर उस व्यक्ति को नहीं दिया तो भी बात उतनी ही बुरी है क्योंकि तब प्रश्न होगा कि ऐसा वातावरण क्योकर बना जो कला और साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र मे स्वतंत्रता से मौलिक कार्य करने के लिए इतना प्रतिकूल पड़ता है। यह किसी भी तरह से अच्छी स्थिति नही है।

अमृत राय[2] के शब्दों मे, "संसार भर के जागरूक विचारकों को सोवियत देश मे होने वाले समाजवाद के प्रयोग ने अपनी ओर आकर्षित किया था और बड़ी-बड़ी आशा

1 अमृत राय, सहचिन्तन, हस प्रकाशन, पृ –25–26
2 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', पृ.–19

और उमगे लेकर लोग उसकी तरफ दौडे थे, लेकिन जब स्वतत्र चिन्तन के अपराध मे लोगो पर किये गये अत्याचारो और हत्याकांडो की कहानियॉ धीरे-धीरे बाहर भी पहुॅचने लगी–स्तालीन के जिन अपराधो का ब्योरा आगे चलकर ख्रुश्चेव ने दिया-तो लगा कि अब कही कुछ भी नही बचा, जो मन को सहारा दे सके, जो मनुष्य को इस अॅधेरी कालरात्रि से निकालकर एक नये सूर्योदय की ओर ले जा सके। और तभी 'डार्कनेस ऐट नून', 'द गॉड दैट फ़ेल्ड', '1984', 'ऐनिमल फार्म', 'द नेकेड गॉड' जैसी किताबे लिखी गयी, जो सब खण्डित आस्थाओ के घोषणापत्र थे।''

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि अमृत राय उनकी वकालत कर रहे हैं। अमृत राय[1] ने लिखा है, ''मैं उनकी वकालत नहीं कर रहा हूँ, न उनके सब निष्कर्षो को ठीक मानता हूॅ, और न यही मानता हूँ कि जिनकी आस्थाएँ टूटी, उनकी उस आस्था में भी कही कोई त्रुटि न थी जो वह टूटकर ही रह गयी। यहाँ पर मेरा उद्देश्य लोगों की उस समय की मनः स्थिति का एक चित्र देना भर है।''

अमृत राय[2] का कहना है कि साहित्य की भूमि मिलन की भूमि है-शर्त बस एक ही है कि व्यक्ति अपनी वैचारिक संकीर्णता से थोड़ा उबर सके, सबको अपने ही मत की घुट्टी पिलाने की कोशिश न करे बल्कि यह मानकर चले कि दूसरे भी उसी के समान ईमानदार हैं, उसी देश-काल मे जीते हैं इसलिए कुछ अजब नहीं कि उनकी रचनाओं में भी, कुछ दूसरे ढंग में, कुछ दूसरे स्वर में, वही देश-काल बोल रहा हो। वही तो मिलन की भूमि है।

पहले तो यह बात साफ़ कर लेनी चाहिए कि क्या किसी वाद को अपने जीवन मे स्वीकार करनेवाला साहित्यकार अथवा उसका साहित्य महान् हो सकता है?

अमृत राय इसका जवाब नही और हाँ दोनों में देते हैं। 'प्रगतिशीलों का अपना प्रेमचंद कब?' शीर्षक अपनी एक संपादकीय टिप्पणी में अमृत राय[1] ने सन् '47 ई0 मे लिखा

---

1. वही
2 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, पृ –78

था, ''यदि कोरा वाद या कोरी सिद्धात चर्चा साहित्य मे रहेगी तो वह जीवन्त साहित्य न होगा, यानी अगर वाद किसी लेखक पर इतना हावी हो गया है कि उसने स्वतत्र चिन्तन की सभी राहे रूध दी हैं या जीवन की विशाल फैली हुई भूमि पर एक स्वतत्र सवेदनशील मनुष्य की तरह घूमने की सारी स्फूर्ति छीन ली है, तो उसमे निश्चय ही जीवन का स्पन्दन न होगा। ऐसे साहित्य को हम वादाक्रान्त साहित्य कह सकते है। ऐसा साहित्य अधिक से अधिक अपने रचना-कौशल से पाठक को थोडी देर के लिए चमत्कृत कर सकता है, पर स्थायी रूप से उस पर कोई प्रभाव नही छोड सकता। ..यदि वाद सत्य के अनुसंधान मे दृष्टि का काम करे, पजमुर्दा वज़न को ढोनेवाली बैसाखी का नही, तो उसमे कोई बुराई नही है। इस रूप में जीवन मे वाद को ग्रहण करने वाला साहित्यकार कभी पथ से नही भटक सकता। उसके साहित्य को वादाक्रान्त या वादग्रस्त भी नही कहा जा सकेगा; उसमें से वाद का लोप न हो जायेगा मगर ऐसा लगेगा कि वाद का लोप हो गया है, क्योकि जीवन के घात-प्रतिघात से वाद एक सहज सत्य बन जाता है जो सबसे अपने आपको (एक प्रकार से बलात् मगर तब भी अनायास) मनवा लेता है।''

सच पूछा जाय तो छल का सबसे सभ्य और सुसंस्कृत रूप यही है कि लेखक अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए अपनी कृति को कृत्रिम रूप मे ऐसी दिशा दे और उसका समाहार इस रूप मे करे जिसका साक्ष्य उस कृति में और उस लेखक की अपनी अनुभूति या भावना में नहीं है। यह एक ऐसा घुन है जो साहित्य का सारा रस चूसकर उसे खोखला बना देता है[2]।

'अपने ही देश में हम परदेशी' नामक अपने लेख में अमृत राय ने साहित्यकारों को यह बताने की कोशिश की है कि जब तक हमारे सोचने और कहने का विदेशी ढंग नहीं जायेगा, तब तक हम साहित्य को उच्च शिखर तक नहीं ले जा पायेगे। अमृत राय[1] ने

---

1 अमृत राय, नयी समीक्षा, हस प्रकाशन, सन् 1982 ई0, पृ-149-51

2 अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', पृ-88

लिखा है, ''निरे भावनात्मक और निरे बौद्धिक प्रगतिशील साहित्य ने अपना कार्य पूरा कर दिया, हमारे विकास का वह भी एक आवश्यक चरण था, मगर अब हमारे साहित्य मे प्रौढता आ चली है, इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि हम सतही ढग से प्रगतिशील समाज-दर्शन का चित्र उपस्थित करने वाले साहित्य की रचना से आगे बढकर जरा और गहरे पैठे और ऐसा साहित्य दे जो हमारे जन-सम्पर्क का अकाट्य प्रमाण दे सके, जिसमे जन-जीवन का स्पन्दन स्पष्ट रूप से विद्यमान हो।''

जब तक कलाकार के गहरे से गहरे विचार और भावनाएँ पुरानी व्यवस्था के साथ बँधी हुई हैं, जब तक वह एक बुर्जुआ के दिल-ओ-दिमाग से जीवन का अनुभव करता है, तब तक वह अनुभव, जिसे वह दूसरो तक पहुँचता है, बुर्जुआ वर्ग की आँखों से देखा गया रहेगा।

अमृत राय[2] ने तो यहाँ तक कहा है, ''कला के नाम पर कम्युनिस्टों को पन्नों भर-भर गाली देने के साथ-साथ 'अनुभव' जैसे अस्पष्ट शब्द को इस्तेमाल करके शासक वर्ग के नीतिकारों ने यथास्थिति को बौद्धिक रूप से और भी दृढ़ बनाया है। असल में कहना वे यह चाहते हैं कि सिर्फ 'उनका' अनुभव अनुभव है। वे सर्वहारा वर्ग के अनुभव को या तो जानते नहीं या उससे नफ़रत करते हैं, इसलिए वह उनके लिए अनुभव ही नही और इस नाते कला के योग्य विषय नही है। लेकिन अगर कला को 'ज्ञान के विकास' और 'वैज्ञानिक कर्म के शिल्प' से नाता तोड़ना होगा, अगर उसे राजनीति और वर्ग-संघर्ष-जिनका मेहनतकशों के जीवन में बड़ा महत्त्व है-की उपेक्षा करनी होगी, तब कला के लिए किस तरह के अनुभव बाकी ही बचेंगे? सिर्फ वैयक्तिक वेदना, आवेग, आचार, उपजीवी वर्ग का अनुभव। ऐसी कला आज बुर्जुआ लेखक पैदा कर रहे हैं। यह अनुभव वर्ग प्रेरित होता है, लेकिन जैसा हमेशा बुर्जुआ वर्ग के साथ हुआ है वे झूठा दावा करते हैं कि उनके

---

1 अमृत राय, नयी समीक्षा, हस प्रकाशन, 1982, पृ–169

2. अमृत राय, नयी समीक्षा, पृ–346

मूल्य (values) मानवता के मूल्य है।''

अमृत राय[1] ने इसे और स्पष्ट करते हुए बताया है कि अगर आप एक ऐसे मेहनतकश को ले जो रचनात्मक कल्पनाशक्ति रखता है और उससे अपने अनुभवो को ईमानदारी से लिखने को कहे तो वह बुर्जुआ के अनुभव से इतना दूर होगा कि 'सफेदपोश' हमेशा ही की तरह फिर प्रोपेगैंडा का शोर मचाने लगेगा। फिर भी मेहनतकश का जीवन ठीक उन्ही अनुभवो के चारों ओर चक्कर काटता है जो बुर्जुआ सौन्दर्य-प्रेमी को अजीब मालूम पडते हैं। जो बुर्जुआ सौन्दर्य-प्रेमी उन अनुभवो से नफ़रत करता है और विश्वास नही कर पाता कि वे अनुभव हो भी सकते हैं। 'सफ़ेदपोश' समझता है कि सिर्फ मॉस्को का फरमान ही लोगो को मिलों, हडतालों, राजनैतिक वाद-विवादो के बारे मे लिखने को मजबूर कर सकता है। वह इतना जानता है कि ऐसी चीजें लिखने के लिए उसे जबर्दस्ती ही मजबूर किया जा सकता है, अपने मन से वह कभी न लिखेगा, क्योंकि सर्वहारा वर्गीय साहित्य के विषय उसके अपने जीवन के बाहर हैं। लेकिन मेहनतकश उन्हीं अनुभवों पर लिखता है जिन्हे बुर्जुआ 'प्रोपेगैंडा' कहता है, वे अनुभव जो मौजूदा समाज के आधारभूत शोषण का पर्दाफ़ाश करते हैं।

कला अनुभव के साथ बदलती है, उसकी प्रेरक शक्तियाँ अनुभव के साथ बदलती हैं। आज अधिकांश मानव-समाज के अनुभव ऐसे हैं कि दूसरे युगों के व्यक्तिगत विषयो की अपेक्षा सामाजिक और राजनीतिक विषय ज्यादा रोचक, ज्यादा महत्त्वपूर्ण, ज्यादा 'सामान्य' है। आज सामाजिक विषय लोगो के सामान्य अनुभवों से मेल खाते हैं और लोग उन उग्र और बुनियादी परिवर्तनों की ओर तीक्ष्ण रूप में सचेतन हैं, जिनके बीच से वे गुजर रहे हैं, जिनका आनयन वे कर रहे हैं। मेहनतकश और उनसे सहानुभूति रखनेवाले बुद्धिजीवी-जो खुद भी सामान्य सामाजिक-आर्थिक संकट के शिकार हैं-बुलबुलो, मध्यवर्गीय की अचेतन भावनाओ या ग्रिनिज गाँव के प्रेम की अपेक्षा क्यो बेकारी, हड़तालों, युद्ध और फ़ासिज़्म

1 वही, पृ –347

के खिलाफ संघर्ष, क्राति और क्रांति-विरोधी षड्यत्र मे ज्यादा कल्पना की जरूरत नही।

अमृत राय[1] के शब्दो मे, "जब रचनात्मक साहित्यकार अपनी मेज पर बैठता है और अपनी कविताएँ या उपन्यास या नाटक लिखता है उस वक्त उसे यह भ्रम हो सकता है कि वह अपनी कृति लिखने के लिए ही लिख रहा है। लेकिन उसके पूर्वकालीन जीवन, उसकी वर्ग-शिक्षा, पहले से जमे हुए उसके विश्वासो और अनुभवो के बगैर उस पुस्तक की रचना असंभव होगी।"

यूनानी कहते थे स्मृति कलाओ की जननी है और स्मृति, अनुभव और सामान्य निराकार विचार पर नही बल्कि एक विशेष सामाजिक संगठन मे होनेवाले हमारे कर्म, शिक्षा और ज्ञान पर जीती है। कवि का अनुभव बदलने के साथ-साथ उसकी कविता बदलती है।[2]

लेकिन इस सत्य से भी इनकार नही किया जा सकता कि लेखक अपनी अनुभूतियो से ही नहीं बल्कि अपने ज्ञान और अपने विचारो और अपने संकल्प से भी रचना करता है। उसकी कृतियों की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है, जो उसकी कृतियों को रूप देती है। भले ही वह बहुत सबल न हो, अस्तव्यस्त और पक्षपातपूर्ण हो।

1 अमृत राय, नयी समीक्षा, पृ –352

2 वही, पृ –352

दूसरा अध्याय

अमृत राय का आधुनिक बोध
और
उसके प्रगतिशील पक्ष

(क) परंपरा और आधुनिकता : द्वंद्वात्मक संबंध

(ख) परंपरा और प्रयोग

(ग) आधुनिकता और प्रगतिशीलता

आधुनिक बोध को समझे बिना अमृत राय की आलोचना की पृष्ठभूमि को समझना मुश्किल है। उनके आधुनिक बोध की पृष्ठभूमि मे है उनका मार्क्सवादी चिंतन। मार्क्सवाद उनके लिए जड़, स्थिर अथवा रूढ दर्शन नहीं, वरन् एक खुला एवं गतिशील दर्शन है। वे मार्क्सवाद अथवा प्रगतिवाद को एक साहित्यिक मोर्चा भर नही मानते, बल्कि प्रगतिवाद को वह उन सभी साहित्यिको-चिंतको का मोर्चा मानते हैं, जो देश को अंग्रेजों की गुलामी से पूर्णतया मुक्त कराना चाहते हैं। आशय यह कि अमृत राय ने अपने समय और समाज की विभिन्न समस्याओ से जुड़कर साहित्य-रचना की और अपनी रचनाओं मे अपने समकालीन यथार्थ को चित्रित किया।

अन्य प्रगतिशील चिन्तको की भाँति अमृत राय ने भी 'आधुनिकता' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में फैलायी जानेवाली मानसिक विकृति का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है। अमृत राय[1] ने आधुनिकता की दौड़ लगाने वालो को 'महाराज' की संज्ञा दी है और सतही आधुनिकता की इस दौड़ में भाग लेने वालों को संबोधित करते हुए अपना मंतव्य इन शब्दों मे व्यक्त किया—"असल आधुनिकता बाह्य आचार मे नहीं, मन के संस्कार में होती है। मन के संस्कार का आशय है मन की वह वृत्ति जो मध्ययुगीन रूढ़ियों और अंधविश्वासों से नाता तोड़कर आधुनिकतम ज्ञान के आलोक में तर्क और विवेचना की कसौटी पर जीवन के हर व्यापार को परखती है और स्वयं अपने विवेक से स्वय अपने निष्कर्ष पर पहुँचती है।"

वास्तविक आधुनिकता हमारे दृष्टिकोण को आलोचनात्मक बनाती है। वह हमारी संवेदनाओं को तीव्र करती है। यही कारण है कि अमृत राय[2] भी यह लिखते हैं, "वह जो चीज समसामयिक या वर्तमानकालीन नही है वह भी आधुनिक हो सकती है- इसका प्रमाण हैं- ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ, प्राचीन यूनान के नाटककार इस्किलस यूरिपिडीज, साफोक्लीज और उनसे भी पचीसों हजार बरस पहले स्पेन और फ्रांस की गुफाओं मे

1. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ.–31
2. वही, पृ– 36

ऑके गये भित्ति चित्र, बाइबिल की कहानियाँ, कबीर की साखियॉ,जातक कथाएँ और भी न जाने क्या-क्या जो कल इतना सब व्यवधान होते हुए आज भी इतना आधुनिक जान पडता है।"

निष्कर्षतः अमृतराय[1] के मतानुसार, "अगर कोई सच्चे अर्थो मे अपने मन का आधुनिक संस्कार करना चाहता है तो उसके लिए जरूरी है कि वह सब कुछ देखे जो देखने योग्य है और उसमे से अपने विवेक के अनुसार संग्रह करे।"

(क) परंपरा और आधुनिकताः द्वंद्वात्मक संबंध :

महाकाल की दृष्टि में आधुनिक और पुरातन में कोई भेद नही है क्योंकि जो अधुना है अद्यतन है, वही पुरा और अनद्यतन हो जाता है। हाँ, व्यवहार की दृष्टि से हर कोई आधुनिक या अद्यतनीय होना चाहता है। कोई भी पुरातनपंथी नही होना चाहता। आधुनिकता एक ओर व्यक्ति के बाहरी व्यक्तित्व को प्रभावित करती है जिसके कारण फैशन, नई-नई उपभोक्तावादी वस्तुओं को अपनाने की ललक, नई वेशभूषा, आभूषण व सुविधापूर्ण जीवन शैली की ओर व्यक्ति उन्मुख रहता है। परंतु यह वाह्य आवरण सच्ची आधुनिकता को नहीं अभिव्यक्त करते। सच्ची आधुनिकता आंतरिक विकास का वह रूप है जिसमें मनुष्य पुरातनता के मोह मे न पड़कर उदारवादी दृष्टिकोण अपना लेता है। यह उदारवादी दृष्टिकोण ही सच में मनुष्य को आधुनिकतावादी बनाता है क्योंकि तब व्यक्ति परंपरा के क्षत-विक्षत अंश का परित्याग कर ग्राह्य को ग्रहण कर उसे देशकाल के अनुरूप जीवन का अंग बनाकर विकसित कर लेता है।

परंपरा शब्द अपने अंदर अनेक अर्थों को समेटे हुए है, जैसे—ऐतिहासिक परंपरा का अभिप्राय इतिहास से संबद्ध उन मूलभूत तत्वों का अन्वेषण है जो विभिन्न कालो मे

---

1. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हस प्रकाशन, पृ.–27

हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करते है। इतिहास का उतना ही अंश परपरा होता है जितना मानव सभ्यता की प्रगति के साथ विकसित होता है अथवा जितना अंश जीवंत है। संपूर्ण इतिहास कालांतर मे कभी भी पूर्ण परंपरा का रूप धारण नहीं कर सकता।

परंपरा की समाजगत सांस्कृतिक प्रवृत्ति सर्वथा नूतन है। इसी पृष्ठभूमि में शिल्से का कथन है कि यह सोचना सर्वथा निरर्थक है कि परंपरागत समाज तथा आधुनिक समाज के मध्य कभी न पटने वाली खाई है। परंपरागत समाज न तो पूर्णतया रूढ़िग्रस्त है और न आधुनिक समाज पूर्णतया परंपरामुक्त। वस्तुतः परंपरा किसी समाज को पूर्वजों से प्राप्त उपलब्धि है, जो सामाजिक संगठनों के सभी स्तरों यथा मूल्य, प्रतिमान सामाजिक गठन एवं व्यक्तित्व निर्माण पर विकसित होती है।

एक प्रवृत्ति के रूप में आधुनिकता का जन्म तब हुआ जब यह संसार विच्छिन्न विदारण की स्थिति से गुजरने लगा था। राजनीतिक आवेश से सभी जागृत देश विकल थे तथा मानव जाति के परंपरागत जीवनदर्शन तथा विश्वदृष्टि में भंयकर आलोड़न-विलोड़न चल रहा था किन्तु वय विकास की दृष्टि से आधुनिकता के प्रति केवल तरूण वर्ग ही आग्रहशील है। अधिकांश पुराने लोग आधुनिकता के नाम से चिढ़ते हैं और उसकी छाया मात्रा को देखते हैं। इस तरह आधुनिकता एक प्रकार से तरूणों का आंदोलन बन गयी। परंतु जागृति की अनेक लहरों ने मिलजुलकर भारत को आधुनिकता के पास पहुँचाया है।

आधुनिकता गतिशील होती है। आज की आधुनिकता कल के लिए ऐतिहासिकता ही होगी यह निश्चित है। आज जिन बातों को परंपरावादी या पुरातनवादी कहकर नकारा जा रहा है, यही प्रवृत्तियाँ एक समय विशेष में आधुनिक थीं। आधुनिकता वस्तुतः एक मानसिक अथवा बौद्धिक स्थिति है जिसका आविर्भाव समाज की विषम एवं गहन समस्याओं से होता है। परंपरा अतीत का वह सातत्य है, जो वर्तमान को अधिकृत करना चाहता है। अतः आधुनिकता अतीत और वर्तमान के बीच एक रस्साकशी पैदा करती है। यह भविष्य की ओर कुछ-कुछ झुकी रहती है और इतिहास चक्र को तेजी से घुमाकर वर्तमान मे भविष्य को रोप देना चाहती है। इस प्रकार अतीत के प्रति वर्तमान की आलोचनात्मक

होती है और वहाँ उठने-बैठने के, हँसने-बोलने के, आर्डर और टिप देने के अदब-कायदे सीखे जाते हैं। इसी के बाद बियर की चुस्कियाँ शुरू होती हैं जो व्हिस्की के पेग पर जाकर खत्म होती है।

इस बीच पढ़ाई-लिखाई बदस्तूर ठप रहती है, क्योकि पढ़ना-लिखना आधुनिकता की परिभाषा में नही आता, वह दहक़ानो का काम है जिन्हे और किसी बात की तमीज़ नहीं।

इस मुकाम तक आते-आते जमीन अच्छी तरह तैयार हो चुकती है और इस नये असामी में एक मानसिक क्रांति होती है- उसके भीतर से श्रद्धा का लोप हो जाता है। पूरी तरह आधुनिक बनने के लिए श्रद्धा के भाव का तिरोभाव बिल्कुल आवश्यक है। उसके बिना आधुनिकता की दीक्षा पूरी नहीं होती।

लेकिन इन सबका आशय यह न निकालना चाहिए कि अच्छे कपड़े पहनने में कोई बुराई है या टाई लगाने में कोई बुराई है या अँग्रेजी गिटपिटाने में कोई बुराई है या गाहे-ब-गाहे कॉफी हाउस पहुँच जाने में कोई बुराई है या बियर की दस-पाँच घूँटे पी लेने मे कोई बुराई है या कि आधुनिक शहरी जीवन के साँचे में अपने को ढालने की कोशिश में कोई बुराई है। नहीं, किसी में कोई बुराई नहीं है। हर चीज की अपनी जगह है और अपनी जगह पर सभी चीजें जिन्दगी को और भी कुछ भराव दे सकती हैं, देती हैं। तो फिर बुराई किस बात में है?

अमृत राय[1] के अनुसार बुराई इसमें है कि यह चीजें जरूरत से ज्यादा जगह घेर लें, ऊपर से नीचे तक आदमी को छा लें और वह इन्हीं को जीवन का आशय और प्रयोजन समझने लग जाय। इसी से दूसरी सब विकृतियाँ पैदा होती हैं। हर चीज अपने उचित परिप्रेक्ष्य में ही अच्छी मालूम होती है। आधुनिकता के साथ भी यही बात है। टेढ़ी नीव पर टेढ़ी इमारत ही खड़ी हो सकती है। यह टेढ़ापन क्या है? यही कि फिलहाल

1. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ –30

हमारा सारा ध्यान, सारा आग्रह, बाह्य आचार की आधुनिकता पर है और मन की सच्ची आधुनिकता, जो कि असल चीज है, उसकी ओर ध्यान देनेवाले कम हैं। यही वजह है कि अकसर बड़े आधुनिक बहिरंग के नीचे से बहुत ही पुराना बहुत ही दक़ियानूस मन झाँकता दिखायी दे जाता है।

एक तरफ एक पिछड़ा हुआ मध्ययुगीन समाज है जो लड़के-लड़कियों को सहज भाव से मिलने नही देता, जो उन्हे जवानी की दहलीज पर कदम रखते ही अलग-अलग कोठरियो मे बंद कर देता है जहाँ उन्हे एक दूसरे की बू-बास भी न मिल सके, आजादी से मिलना-जुलना, साथ उठना-बैठना, घूमना-फिरना तो दूर की बात है। हर झरोखे में खिड़की और रोशनदान में, दरवाजे की हर संधि मे, दरार में, खूसट समाज की पथराई हुई, संदेहशील, अश्लील आँखें जड़ी हैं- और दूसरी तरफ गंदा से गंदा साहित्य है, गंदी से गंदी फिल्मे हैं जो अपनी कामोत्तेजक व्यंजना मे पश्चिम की सफल नंगी फिल्मों से दो बाँस आगे ठहरती हैं अपने नंगेपन में। और दोनों स्थितियों के बीच फँसा हुआ है एक ऐसा युवक जो अगर विद्यार्थी जीवन समाप्त कर चुका है तो जीवन की तलाश में भटक रहा है, एक ऐसे बीहड़ रास्ते पर जहाँ कोई उसका साथी या मददगार नहीं है और न जहाँ किसी की योग्यता ही किसी काम आती है, और अगर विद्यार्थी है तो उसे सबसे कम प्रयोजन अपने विद्योपार्जन से है क्योकि शिक्षा का आज जो रंग-ढंग है, न कोई पढ़ता है और न कोई पढ़ाता है, और न जिस शिक्षा का कोई मतलब है क्योकि वह न तो अर्थकरी है और न कोई मूल्यबोध या आत्मिक संस्कार देती है, और इस नाते समय काटने का मात्र एक बहाना है ताकि जितनी देर संभव हो और पिता या संरक्षक का सामर्थ्य हो वह जीविका के उस भयानक प्रश्न का सामना करने से बच सके-और एक ऐसी युवती जिसका न तो जल्दी ब्याह हो पाता है और न जो बहुधा स्वतंत्र रूप से अपने लिए कोई नौकरी या काम ही खोज सकती है, ब्याह इसलिए नहीं कि वह उसी चिराचरित ढंग से होना है, जात-पाँत मे, लगाकर, माँ-बाप चाचा-ताऊ के खोजे हुए किसी लड़के से और उसमें दान-दहेज सभी कुछ होता है, बाप तो बाप आजकल

के तो लडके भी भाड़ जैसा लबा-चौडा मुँह खोलने लगे हैं, और शादी के बाजार मे आइ.ए.एस. और इंजीनियर और डाक्टर और लेकचरर और किसी दफ्तर के बाबू और किसी संपन्न व्यापारी के बेटे के दाम भी उसी तरह तय हैं जिस तरह कि कोल्ड स्टोरेज मे रखे हुए गोश्त-मछली की बड़ी दुकान में तख्तियाँ टँगी रहती हैं- हैम, इतने रुपये किलो; बेकन, इतने रुपये किलो; मुर्ग इतने रुपये किलो; पॉम्फ्रे इतने रुपये किलो... यानी कि बेटी की शादी पैसे का खेल है, और तभी खेला जा सकता है जबकि हाथ में इतने पैसे हो। और उधर नौकरी वह नही कर सकती, क्योकि एक तो दुनिया नाम धरेगी (हमारा हिन्दी देश शायद इस मामले मे बाकी सभी जगहों से ज्यादा पिछड़ा हुआ है) दूसरे उसमे बड़ा जोखिम है।[1]

कुल मिलाकर यह कहा जाए कि पुराने ढंग से चली आती हुई जीवन व्यवस्था जिस बिन्दु पर पहुँचकर अचल हो जाती है वही विद्रोह का बिन्दु होता है, और वहीं से उसकी कसमसाहट शुरू हो जाती है, भले देश को अपनी सही दिशा पहचानने मे थोड़ा समय लगे।

सच पूछा जाय तो आज का समय आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से जितना कठिन है उससे भी अधिक कठिन चरित्र की दृष्टि से, मूल्यों की दृष्टि से है। सारे मूल्य ही उलट गये हैं- काला सफेद हो गया है और सफेद काला।

ऐसे में मात्र निषेध अधूरी बात है, अस्ति के संदर्भ में किया गया निषेध ही सार्थक निषेध है। क्योंकि उसी के भीतर से उस सार्थक कर्म की प्रेरणा मिलती है जो पुराना कुछ तोड़ता है तो नया कुछ बनाता भी चलता है, बल्कि यो कहें कि नया जो कुछ बनाना है उसी की रोशनी मे उसी की कसौटी पर कसकर, वह इसका निर्णय करता है कि पुराना क्या तोड़ना है।[2]

---

1. 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ.–46–47
2. वही, पृ.– 80

गौरतलब है कि नवलेखन के संदर्भ मे 'आधुनिक भावबोध', 'आधुनिक संवेदना', आधुनिक युग-बोध' आदि को लेकर समय-समय पर अनेक गोष्ठियाँ-संगोष्ठियाँ हुई हैं, ढेरो लेख लिखे गये हैं, कुछ किताबे भी निकल आयी हैं, लेकिन मजे की बात यह है कि किसी ने उसको परिभाषित नही किया। खुद अमृत राय[1] भी इसकी परिभाषा नही करते पर इसका स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए कहते हैं, "कुछ व्याख्याओ और कुछ कहानियो को जोड़-बटोरकर- और इस विषय पर अँग्रेजी साहित्य के आधार पर, जहाँ से ही यह 'माल' आयात किया जाता है- उस चीज की एक तस्वीर खड़ी करने के अलावा कोई चारा नही है। और ऐसा करने पर पता चलाता है कि 'आधुनिक भाव बोध-युगबोध-रागबोध-तत्वबोध' यानी जितने तरह के 'आधुनिक बोध' हैं और जो आधुनिक संवेदना है उन सबका स्थायीभाव एक ही है, ऊब। यानी बोरडम या उससे भी अधिक अर्थविस्तार लिये हुए सीधे फ्रेंच से अंग्रेजी में आनेवाला शब्द, आन्वी। बड़े मजे की चीज है यह ऊब, इससे बड़ा बहुरुपिया कोई नही। साधारण-सी, रोज की जानी-पहचानी ऊब से लेकर हत्या और आत्म-हत्या में पर्यवसित कठिनतम हताशा तक उसका साम्राज्य फैला हुआ है।"

ऊब के अतिरिक्त सेक्स को भी आधुनिक बोध का एक पहलू मानते हुए अमृत राय[2] ने लिखा है, "कौन है दुनिया में जो सेक्स से अछूता है। क्या आदमी क्या औरत और क्या दूसरा कोई जानवर। सबको प्यार की भूख होती है और सबको शरीर की भूख होती है। वही सृष्टि का आधार है। उसके बिना जीवन असंभव है। और यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य में शुरू से लेकर आज तक उसको प्राथमिकता मिली है। तरह-तरह से, अनेकानेक रंगों में, उसका चित्रण हुआ है। लेकिन उस प्यार से और उस सेक्स से 'आधुनिक' मन की तृप्ति नहीं होती, वह 'आधुनिक' सेक्स नहीं है। आधुनिक सेक्स का मतलब है कि उसमें प्रकृति से अधिक विकृति हो। औरत-मर्द तो सदा से एक दूसरे

---

1 वही, पृ. – 112

2. वही पृ.–113

को प्यार करते आये है, उसमे कोई नयापन नही है। नयापन है समलिंगी मैथुन मे, पशुओ के संग मैथुन मे, आत्मरति मे। होने को उनमे भी कोई नयापन नही है, कामशास्त्र की पुरानी से पुरानी किताबो मे उनका उल्लेख मिल जाता है और अपने अनुभव से भी हम बहुत कुछ देखते जानते हैं, लेकिन हाँ इतना नयापन जरूर है कि इसके पहले कभी इस चीज को पंथ का रूप नही दिया गया।''

एक कड़वी सच्चाई यह है कि मशीन ने आदमी को जीत लिया है। जहाँ मशीन को आदमी का गुलाम होना चाहिए था, वहाँ आदमी मशीन का गुलाम हो गया है। और अभी तो यह केवल आरम्भ है। जिस तेजी से विज्ञान की उन्नति हो रही है, उसको देखते हुए तो इस कल्पना से ही भय मालूम होता है कि अगले पचास बरस मे ही दुनिया की क्या शक्ल होगी और उसमे आदमी कहाँ होगा, उसकी कैसी क्या सूरत होगी, क्या जिंदगी होगी। अभी तो, इस अर्थ में कि आदमी के हाथ का काम मशीन करने लगी है, आदमी के हाथ का ही अवमूल्यन हुआ है, कल जब आदमी के दिमाग का काम भी मशीन करने लगेगी, (जिसकी शुरुआत भी हो गयी है, और 'एलेक्ट्रानिक्स' में और भी प्रगति होगी और पता नहीं क्या-क्या होगा, मशीन के आदमी, तरह-तरह के 'रोबो', सब काम करने लगेंगे) आदमी के दिमाग का भी अवमूल्यन हो जायेगा, और निरन्तर होता चला जायेगा, तब क्या होगा? आज जिस अर्थ में हम आदमी को आदमी कहकर जानते-पहचानते हैं, उस अर्थ में आदमी रह सकेगा? क्या आज से भी कही ज्यादा उन्हीं मशीनों के रूप में न ढल गया रहेगा? एक विशिष्ट व्यक्तित्व वाले मानव प्राणी के रूप मे और भी अपदार्थ न हो जायेगा? फिर सवाल पैदा होता है, इससे बचने का क्या उपाय है, इतिहास के इस चक्र को कैसे रोका जा सकता है? स्पष्ट है कि अब तक जो उन्नति विज्ञान ने कर ली है, उसको मिटाया नहीं जा सकता। यह संभव नही है कि आदमी अब तक की अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को छोड़कर फिर मध्युग में या आदिम युग मे लौट जाये। तो फिर क्या हम यह मान लें कि यही मनुष्य की नियति है? ये हमारे अस्तित्व के मौलिक प्रश्न हैं और बड़े भयानक प्रश्न हैं।[1]

1 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ –16

आधुनिक युग के संदर्भ मे यह एक बहुत बडी सच्चाई है कि व्यक्ति के जीवन मे, समाज के जीवन मे कितना कुछ है, जो आदमी के जीने की, कुछ भी करने की निपट व्यर्थता को जैसे हर समय हमारे आगे रेखांकित करता रहता है- और हमारे अपने देश मे तो और भी, जो असंगतियो का इतना बडा पिटारा है, जहाँ की धरती ढोंग और ढकोसले के लिए जैसे विशेष रूप से उपजाऊ है, जहाँ कथनी और करनी मे साम्य की बात कहने वाले पागल समझे जाते हैं क्योकि उसकी उल्टी बात समाज की प्रचलित रीति-नीति का साधारण सर्वमान्य अग है। अमृत राय[1] ने लिखा है, ''अपने कुछ अति-आधुनिक लेखकों की बातें सुनकर लगता है, कि जैसे वो रातो-रात मध्ययुगीन बैलगाड़ी-युग से सीधे रॉकेट-युग में पहुँच गये हैं। इस पाखंड भूमि मे (या कही भी) 'ऐब्सर्ड' की क्या कमी। जिस आदमी ने कल देश के लिए बरसों जेल की सजा काटी थी, लाठी खायी थी, वह शासन की गद्दी पर पहुँचते ही चोर और गिरहकट बन जाता है। कचहरी में जाइए, जगह-जगह आपको लिखा मिलेगा 'घूस लेना और देना पाप है' (अपराध नहीं पाप! और पापों की बड़ी-से-बड़ी गठरी एक बार गंगा में डुबकी लगाने या एक बार श्रीमद्भागवत् के दो-चार पन्नो का पाठ या श्रवण करने से कट जाती है।) और चपरासी से लेकर देश का प्रधानमंत्री तक जानता है कि घूस दिये बिना कचहरी का कोई कागज अपनी जगह से नहीं हिलता।...साधू बाबा संन्यासी हैं, भीख माँगकर पेट चलाते हैं और सूद पर रूपया भी। हर आदमी नीति और सदाचार का ठेकेदार है, हर स्त्री को माँ-बहन कहता है, वैसी कोई चर्चा हो तो छी-छी करके कान पर हाथ रखता है- और अपनी 'एक्सरे' निगाहों से हर औरत के कपड़े उघाड़ता रहता है। पुजारी जी पद्मासन लगाकार राम-नाम जपते हैं और आँख की कोर से सामने बैठी या पास गंगा जी नहाती किसी युवती का अंग-विन्यास भी देखते जाते हैं।...जब अकाल पड़ता है, तो अकाल पीड़ितों के लिए चंदा उगाहा जाता है, फिर उस चंदे से अनाज और कम्बल खरीदा जाता है, फिर उसे अकाल पीड़ितों तक पहुँचाया नही जाता, रोककर रखा जाता है कि ठीक

---

1. अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हस प्रकाशन, पृ.–20

चुनाव के पहले लोगो को दिया जायेगा, जिसमे किसी एक खास दल को अपने चुनाव मे उसका लाभ मिल सके- और अकाल के मारे लोग यह देखते हैं। बहुत गुस्सा करते है और फिर उसी दल को जाकर अपना वोट दे आते हैं।''

यानी कि 'एब्सर्ड' जीवन-स्थितियो की कुछ कमी नही, जितनी चाहे गिनाते चले जाइए। जहाँ कही भी कोई बेतुकापन है, बेढंगापन है, जड़ता है, किसी अच्छे काम मे किसी अमूर्त शक्ति के आगे आदमी के श्रम की व्यर्थता है और असत्य की, अनर्गल की, अन्याय की, असुंदर की जीत है, वही 'एब्सर्ड की स्थिति है और उसी का बोध मोटे अर्थों में 'ऐब्सर्ड' का बोध है। वह जीवन के समान ही व्यापक है। व्यक्ति समाज, चिंता, भावना, धर्म, इतिहास राजनीति आदि सभी जगह उसको देखा जा सकता है।

अमृत राय ने 'ऐब्सर्ड-बोध' को सोदाहरण बताने के साथ-साथ उसके दो प्रकारो का विश्लेषण भी किया है। अमृत राय[1] ने लिखा है, ''मैं पैंतालीस बरस का आदमी हूँ। मुझे जो कुछ अपनी जिन्दगी में करना था या नहीं करना था, मैंने कर लिया; जो कुछ दुख-सुख देखना था, वह भी देख लिया, और फिर नीम-बीमार सा आदमी हूँ, अगर अब मुझे मौत आ जाये, तो उसमे कुछ ऐसी बुरी बात नहीं। पर मैं बैठा हूँ और मेरा अठारह बरस का जवान हट्टा-कट्टा बेटा, जिसमें बड़ी प्रतिभा थी, जो अपनी ज़िन्दगी में न जाने कितना क्या करता और जिसके सामने अभी अपनी पूरी ज़िन्दगी को देखने को, भोगने को पड़ी थी, चला गया और ऐसी एक बीमारी में चला गया, जिसका क ख ग भी आज के उन्नत विज्ञान को नहीं मालूम। यह भी एक 'एब्सर्ड' स्थिति है। इसे हम ईश्वरीय न्याय का 'ऐब्सर्ड-बोध' कह सकते हैं।''

ईश्वरीय न्याय का 'ऐब्सर्ड-बोध' को विश्लेषित करने के पश्चात् अमृत राय[2] इतिहास के 'ऐब्सर्ड-बोध' को रेखांकित करते हुए कहते हैं, ''दुनिया के किसानों-मजदूरों की दृष्टि से वह बड़ी खुशी का दिन था, जब चीन में भी किसान-मजदूर राज हुआ और सब

---

1. वही पृ.–21
2. वही

जगह इसी तरह उसकी खुशी भी मनायी गयी। सोवियत रूस को भी अपने गोत्र मे एक इतने महादेश को आते देखकर कितना हर्ष हुआ होगा, सहज ही कल्पना की जा सकती है- और आज चीन का सबसे बड़ा दुश्मन सोवियत रूस है। यह इतिहास का 'ऐब्सर्ड-बोध' है।''

वास्तव मे, जीवन के आकलन से ही यह 'ऐब्सर्ड-बोध' बनता है। जहाँ इतना कुछ उल्टा-पुल्टा, बेतुका, बेसिरपैर है, वहाँ शायद इसी तरह सिर के बल खडे होकर उसे ठीक-ठीक देखा और समझा जा सकता हो। इसी की एक शााखा वह है, जहाँ मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि की व्यर्थता के बोध से अतर्कबुद्धि या 'इर्रैशनल' की ओर जाता है और सचेतन से अधिक महत्व अचेतन और उपचेतन मन का हो जाता है।

अमृत राय[1] के अनुसार, ''इन्हीं सब व्यर्थताओं के बीच होकर, उनका बोझ मन पर ढोते हुए, पुरानी आस्थाओ को खोकर और नयी किसी आस्था के अभाव मे जो एक भाव बोध बनता है, घोर निराशा और अविश्वास जिसका आवश्यक तत्व है, शायद उसी को आधुनिक भावबोध की संज्ञा दी जाती है।''

अमृत राय इस बात पर चिंता व्यक्त करते हैं कि आधुनिकता के चक्कर मे देश काल को भुलाया जा रहा है। अमृत राय[2] ने लिखा है, ''हमारा 'आधुनिकताभिलाषी' अपने देश-काल से नितांत उपराम होकर, आवाँ-गार्द बनने की धुन में सागर-बिलासपुर या बलिया-गोरखपुर जैसी जगहों से निकलकर, बीच में कहीं पड़ाव न करता हुआ, मनसा सीधे पेरिस और न्यूयार्क पहुँच जाता है और वैसा ही ठगा-सा खड़ा रह जाता है, जैसे द्वारका पहुँचकर भगवान कृष्ण की अट्टालिका के सामने सुदामा जी! देशी-ब्राण्ड आधुनिकता की स्थिति भी बहुत कुछ वैसी ही है। अपनी उस चकाचौंध से निकलकर प्रकृतिस्थ हो, तब तो उससे कुछ बात हो! अभी तो वह साहब बनने के पीछे डंडा लेकर पड़ा है। वहाँ बियर-शराब पानी की तरह पी जाती है, इसलिए उसका भी पीना जरूरी है और

1 वही

2. वही, पृ-23

अगर उतने धडल्ले से जी सकना किसी वजह से मुमकिन न हो, तो कम-से-कम उसकी चर्चा तो उठते-बैठते की ही जा सकती है। 'सेक्स' के मामले मे वहाँ बड़ी स्वच्छदता है-और 'सेक्स' के अपराध इतने अधिक होने लगे हैं कि स्वयं वहाँ के विचारको के लिए चिंता का कारण बन गये हैं- इसलिए उसका नंगा नाच दिखलाना यहाँ भी आधुनिकता की एक जरूरी पहचान है कि जैसे इस यौन-क्रांति से ही संसार का नया पुनर्जन्म होना है।"

लेकिन इसका आशय यह न निकालना चाहिए कि 'सेक्स' के मामले मे अमृत राय खुलेपन के हामी नहीं हैं। अमृत राय[1] ने स्वयं लिखा है, "मैं भी 'सेक्स' के मामले मे खुलेपन का हामी हूँ। मैं समझता हूँ कि ज़ोला और फ्रायड जैसे लोगो ने इस चीज को खुली हवा और धूप में खड़ा करके बहुत बड़ा काम किया है और ढकोसलो से, पर्दे के पीछे चलने वाले विराट् पापाचार से संसार को मुक्ति दिलायी है, आदमी को अधिक प्रकृत भूमि पर रखकर देखने और समझने का मौका दिया है। लेकिन खुलापन और विषय से आसक्ति या दुराग्रह एक ही चीज नहीं है। चीज को उसके ठीक संदर्भ या परिप्रेक्ष्य में रखकर देख पाने से ही ऐसी स्थिति पैदा होती है। यही नही, बाहर से भी जो साहित्य आ रहा है, उसमें सेक्स का प्राबल्य विशेष रूप से दिखायी पड़ता है।"

अमृत राय इस तथाकथित 'आधुनिक' भावबोध को आधुनिक नही मानते। इस अस्वीकार के कारण तो कई हैं, जिनमें प्रमुख कारणों को गिनाते हुए अमृत राय[2] ने कहा है, "...मेरा मन, आज के युग के एक छोटे आदमी का मन, उस आधुनिक भावबोध को पूरी तरह आधुनिक नही मान पाता। विशेषकर इसलिए कि मेरा मन एक भारतीय का मन है। संसार को निस्सार माया माननेवाला दर्शन उनके लिए नयी चीज हो, हमारे लिए कोई नयी चीज नही है। हमने अपनी घुट्टी के साथ उसको पिया है, इसीलिए जानते हैं कि वह क्या चीज है और कहाँ ले जाती है। दूसरी ओर चार्वाक के इस देश के लिए पश्चिम

---

1. अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ.–23
2 वही पृ.–24–25

का यह अभिनव भोगवाद भी कोई नयी चीज नही है। उसी तरह तांत्रिको के इस देश मे, जहॉ सैकडो साल तक समान भाव से मरघट पर मुर्दा स्त्री के साथ और वास स्थान पर नौ-दस-ग्यारह साल की अक्षतयोनिका लोलीटाओ के साथ रमण करके अपने को 'मंत्र-सिद्ध' किया गया हो, सेक्स के उस रहस्यजाल मे भी कोई नयापन नही है, जिसे आज ऐसे-ऐसे विदग्ध कलाकार इन्द्रधनुषी रंगो मे बुन रहे हैं। यह सभी कुछ हम देख चुके है, और जहाँ बहुत पुरातन होने की बहुत बुराइयाँ होती हैं, वहाँ उसका एकाध सुफल भी होता ही है। दर्शन हमारे घर की बहुत पुरानी चीज है। सदियों हम उससे खेले हैं और इतने आत्मविभोर होकर खेले हैं कि और कुछ करने का हमें ध्यान ही नहीं रहा। इसीलिए यह आकस्मिक बात नहीं है कि पश्चिम के विचारक आज इतनी तेजी से भारतीय योग की ओर झुक रहे हैं और गिन्सवर्ग भी कुछ पाने के लोभ से ही यहाँ भागा आता है। लेकिन हमे खुद पता नही कि हमारे पास अपना क्या है। कौन जाने कुछ हो ही, इस दरिद्र देश के पास! उसी को अपने ज्ञान-विज्ञान, अपने लोकमानस और स्वयं अपने भीतर टटोलकर देखने की जरूरत है। वहीं हमें आत्मा की अमरता का दर्शन भी मिलेगा, नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः (गीता का एक नया अनुवाद, किन्हीं पुरोहित स्वामी का किया हुआ और टी.एस. एलियट के प्रकाशन संस्थान 'फ़ेबर एण्ड फ़ेबर' से प्रकाशित मेरे सामने रखा है। एलिएट के काव्य पर भारतीय दर्शन, विशेष रूप से उपनिषदों का प्रभाव भी सर्वविदित है, और एज़रा पाउण्ड भी आलोक के संधान मे पूर्व की ओर ही भागा। वह चीन गया और चीन का प्राचीन दर्शन भारतीय दर्शन का कितना ऋणी है, यह सब विद्यार्थी जानते हैं।) एक ओर संसार की निस्सारता, मरणधर्मिता और दूसरी ओर आत्मा की अमरता, मैं ठीक से समझ नहीं पाता, पर कभी-कभी मुझे लगता है कि भारत देश अपनी सांघातिक बुराइयो और दुर्बलताओं के बीच भी जो जीवित है, उसकी इस जीवनीशक्ति का रहस्य कदाचित् इन्ही दोनो ध्रुवों के पारस्परिक तनाव में है, और कौन जाने उसी में आज के इस अभिशप्त युग के लिए भी इस देश का कुछ संदेश हो।''

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अमृतराय परपरामुक्त आधुनिकता के हिमायती नही है। आधुनिकता को वह बुरा नही मानते, लेकिन ऐसी आधुनिकता जो परंपरा से जुड़ना नही कटना सिखाती है वह किसी काम की नही। अस्तित्ववाद के दर्शन पर आधारित आज का जो यह आधुनिक भावबोध है, उसके सत्य से आँख नही चुरायी जा सकती। पर अमृत राय का दृढ़ विश्वास है कि वह एकांगी दृष्टि है और यह उसकी एकांगिकता का ही आग्रह है, जो उसका पूर्वग्रह बन गया है कि वह मनुष्य का, मनुष्य की नियति का कुत्सित और अंधकारपूर्ण रूप ही चित्रित करता है। वही एकांगी दृष्टि, कालान्तर में अनुयायियो की आँख का रंगीन चश्मा बन जाती है। यही सांघातिक स्थिति है, क्योकि यही पर आदमी जीवन के अपने अनुभव और अपनी उपलब्धि को झुठलाकर दूसरे की बोली बोलने को प्रेरित होता है। सच्चाई यह है कि संसार मे केवल अंधकार ही नहीं है। अंधकार भी है, ज्योति भी है। अमृत राय[1] ने लिखा है, "अगर आदर्शवाद के नाम पर, मनुष्य के जीवन और चरित्र के अंधकार-पक्ष को बचा जाने की पुराने लेखक की प्रवृत्ति उसके लेखन की 'इंटीग्रिटी' को खंडित करती थी, वह सत्य लेखन न रहकर फेनिल उच्छ्वास बन जाता था, तो उसी तरह आज का आधुनिकतावादी लेखक जब अपने यथार्थ चित्रण के नाम पर, मनुष्य के जीवन और चरित्र के नाम पर मनुष्य के जीवन और चरित्र के ज्योतिपक्ष को दबा देता है, अनदेखा कर जाता है, तो वह भी अपने लेखन की 'इंटीग्रिटी' को खंडित करता है और उसका लेखन एक दूसरी तरह का फेनिल उच्छ्वास बन जाता है। जीवन का सत्य दोनो के हाथ से छूट जाता है, क्योंकि जीवन का सत्य उसके द्वंद्व में है।"

इस प्रकार अति आधुनिकतावाद का पक्ष है कि परिवर्तन अनिवार्य है। परिवर्तन से पीठ मोड़ना पलायन है। पुराने से चिपके रहना आधुनिकता से काट देगा, दुनिया से काट देगा।

दूसरी ओर परंपरावाद का पक्ष है कि अतीत ही श्रेष्ठ था, गौरवशीली था। समाज

1 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', पृ -26

मे फैली हर बुराई, हर अनर्थ पश्चिमी संस्कृति के कारण है।

इन दोनो अतियो के बीच यह निष्कर्ष निकालना ही यथोचित होगा कि अपनी जडो से कट कर कोई सच्चे अर्थो में न आधुनिक हो सकता है, न सार्वभौम दृष्टि विकसित कर सकता है। भूमंडलीकरण के इस दौर मे हमे ऐसी विश्वव्यापी संस्कृति की तलाश करनी है तथा विकास करना है जो यथार्थ मे अंतर्राष्ट्रीय हो और मानवीय भी हो।

(ख) परंपरा और प्रयोग :

परंपरा और प्रयोग के प्रश्न पर अमृतराय के विचार उनकी प्रगतिशील आस्था को बहुत सही संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। अमृत राय का मानना है कि परंपरा और प्रयोग के संबंध को ठीक से समझने के लिए उन्हें इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना जरूरी है क्योंकि गति या प्रवाह परंपरा का आवश्यक गुण है। जहाँ गति नहीं प्रवाह नहीं है, वहीं सड़न है, उसी को रूढ़ि कहते हैं।

परंपरा के संबंध में अमृतराय का दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनके लिए परंपरा लीक नहीं, बल्कि लीक तो रूढ़ि है। मनुष्य की मनीषा जहाँ लीक छोड़कर साहसपूर्ण प्रयोग करती है, वही सच्ची परम्परा का सूत्रपात होता है। जिसे हम आज परम्परा के रूप में जानते हैं वह ऐसे ही साहसपूर्ण प्रयोगों की परम्परा है।[1]

सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमृत राय के उपर्युक्त विचार परम्परा और प्रयोग के बीच एक अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित करते हुए उस कृत्रिम विभाजन की अवमानना करते हैं, जो जान-बूझकर उनके बीच उत्पन्न किया गया है, "सच्चे प्रयोग परम्परा को शक्ति प्रदान करते हैं और वही वास्तविक परम्परा की सृष्टि भी करते हैं। युगान्तकारी प्रयोगों के माध्यम से ही परम्परा में नित्य नयी कड़ियाँ जुड़ती रही हैं... और उन सबको लिये-दिये समय की धारा में छनती-निथरती परम्परा हम तक आती है, इसलिए कि हम भी अपने युगधर्मी प्रयोगों से उसमें नया कुछ जोड़ सकें।"[2] परंपरा का आशय

1. 'सह चिन्तन', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ.–54

2 वही पृ.–55

रूढि नही है। दोनो को एक न मानने की सलाह देते हुए अमृत राय[1] ने लिखा है, ''परपरा बनती नही बनायी जाती है। वह न तो जगली वनस्पतियो की तरह आप से आप उगती है और न उसकी स्थिति रूढियो के समान 'रसरी आवत जात के सिल पर परत निसान' की है। रूढियो और परंपरा का संभवतः यही मौलिक प्रभेद है। रूढ़ियाँ आप से आप बन जाया करती हैं, जैसे हाथ मे घट्टे पड जाते हैं। परपरा का निर्माण मनुष्य के गतिशील आत्म-सजग मनन-चिन्तन, उद्भावना और कर्म से होता है।... गति या प्रवाह परंपरा का आवश्यक गुण है। जहाँ गति नही है, प्रवाह नही है, वही सड़न है। उसी को रूढ़ि कहते हैं।''

यह गतिशील जीवन दृष्टि अतीत, वर्तमान और भविष्य, तीनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। यही सार्थक रूप से त्रिकाल में जीना है।[2]

अपनी गतिशील जीवन-दृष्टि की कसौटी पर कसकर, उसके मुर्दा तत्वों को छोड़ते हुए उसके जीवन्त तत्वों को ग्रहण करना, सार्थक रूप में अतीत को ग्रहण करना है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ हम अतीत को ग्रहण नहीं करते, अतीत अपनी रूढ़ियों के नागपाश में हमको 'ग्रहण' करता है।

उसी तरह अपने वर्तमान जीवन-अनुभव के आधार पर अपनी कर्म-संवलित गतिशील जीवन-दृष्टि से भविष्य की ओर अग्रसर होना सार्थक रूप से उस भविष्य, को जीना, उस भविष्य में जीना कहा जा सकता है। इस तरह, अपनी शक्ति की सीमाओं में, हम भविष्य को गढ़ सकते हैं। जहाँ ऐसा नहीं है, अर्थात् जहाँ हम अपने रूढ़ चिन्तन, जड़-निष्क्रिय चिन्तन के बंदी हैं वहाँ हम भविष्य को नही जीते, भविष्य हमको मारता है ; हम भविष्य को नहीं गढ़ते, भविष्य हमको तोड़ देता है। और इस तरह जो भविष्य हमारे हाथों मे कुम्हार की गीली मिट्टी जैसा हो सकता था, वह हमारे लिए एक अंधी नियति बन जाता है जिससे कही त्राण नहीं है।[3]

---

1 वही पृ.–50
2. वही, पृ. – 52
3. वही

इस प्रकार मनुष्य अखड है। काल अखड है। यह कहना कि मनुष्य केवल वर्तमान या प्रस्तुत क्षण मे जीता है एक अर्द्ध-सत्य है। वस्तुतः मनुष्य त्रिकाल मे जीता है- जहाँ संदेह नही जीता वहाँ चिन्तन और कल्पना से जीता है। मानसिक स्तर का यह जीवन मनुष्य नामक प्राणी का सहज स्वभाव और निम्न स्तर के पशुओ से उसका वैशिष्ट्य है। त्रिकाल का यह जीना मानसिक गतिशीलता के आधार पर भी हो सकता है और मानसिक जड़ता के आधार पर भी। पहले से मनुष्य की विवेकी परंपरा का सूत्रपात होता है, दूसरे से अंधी रूढ़ियों का। मनुष्य की भौतिक और आत्मिक माँगों ने ही उसके चिन्तन और उसकी उद्भावना को दिशा दी है। भौतिक माँगो की पूर्ति के लिए उसने भौतिक सुख-सुविधा के उपकरणों का आविष्कार किया। आत्मिक माँगो के समाधान के लिए वह दर्शन, गणित, काव्य, कला आदि की ओर प्रवृत्त हुआ।...युग-युगान्तर से यही प्रक्रिया चल रही है। मनुष्य के आत्म-बोध से, युग-बोध से, सौन्दर्य-बोध से उसकी सृष्टि हुई थी और उसी का पाथेय लेकर वह बराबर बढ़ती रही है। दूसरे शब्दों मे जिज्ञासा, विवेक और आत्म-अभिव्यक्ति, यही उसकी प्रधान अनुप्रेरक शक्तियाँ रही हैं। मनुष्य जाति की इसी सांस्कृतिक यात्रा को, संस्कृति की इसी सजीव श्रृंखला को हम मानव जाति की सांस्कृतिक परंपरा के नाम से पुकारते हैं। कहना न होगा कि जीवन के बदलते हुए परिवेश में, ज्ञान-विज्ञान की, काव्य और कला की नयी-नयी उपलब्धियों के संदर्भ में, मनुष्य की यह सांस्कृतिक यात्रा एक सीधी, अटूट, अविकल रेखा के समान न तो हो सकती थी और न हुई। पड़ाव तो उसमें साफ-साफ देखे ही जा सकते हैं, उतार-चढ़ाव भी कम नहीं हैं। मानवता बहुत बार भटककर गलत, अँधेरे, आत्म-हन्ता रास्तो में भी जा पड़ी है। लेकिन मनुष्य ने कभी हार नहीं मानी है और संघर्ष करके फिर उसी मार्ग पर आ गया है जो उसके जीवन और उसके उत्कर्ष का मार्ग है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की यात्रा, जिसमें झाड़-झंखाड़ की सफाई करके खुद ही अपना रास्ता बनाना हो, प्रयोग के बिना नहीं हो सकती।[1] क्योंकि अमृत राय[2] की मान्यता है कि परंपरा को प्रयोग से अलग

1. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ-52-53
2. वही

करके देखा ही नही जा सकता। परंपरा का इतिहास उसी अर्थ में और बिल्कुल उसी सीमा तक प्रयोगो का भी इतिहास होता है। देखने की बात उसमे इतनी ही है कि सब प्रयोग सफल नहीं होते, अर्थात् जीवन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, या केवल अंशतः खरे उतरते हैं, या एक समय खरे उतरने पर भी दूसरे समय, किसी भिन्न पीठिका में, पूरी तरह या किसी अंश मे खोटे साबित हो सकते हैं। सभी कुछ संभव है और संस्कृति के इतिहास मे सभी कुछ हुआ है और जब जैसी स्थिति रही है उसके अनुसार इतिहास विधाता ने, जो मानव जाति के सार्वभौम विवेक या मनीषा का ही दूसरा नाम है, जो नितान्त तिरस्करणीय है उसका तिरस्कार कर दिया है और जो जितना जिस सीमा तक संग्रह करके बड़े आदर से अपने कोष में मिला लिया है। विज्ञान और कला, दोनों ही के प्रयोगों के सम्बन्ध में यह बात मोटे रूप में ठीक है।

पर दोनों में एक तात्विक अंतर है जिसे समझ लेना हमें अपनी अगली बात के समझने में सहायक होगा। विज्ञान की प्रकृति विश्लेषणात्मक होती है, काव्य-कला की प्रकृति संश्लेषणात्मक। विज्ञान का सत्य तर्क का सत्य होता है, काव्य-कला का सत्य राग का सत्य। इसीलिए विज्ञान का एक सफल प्रयोग अपने पूर्ववर्ती प्रयोग को काटता है।

लेकिन काव्य-कला की स्थिति भिन्न ही नहीं इसके विपरीत है। यहाँ एक दूसरे को काटता नहीं, उसमें नया कुछ जोड़ता है। यहाँ एक से दूसरा अमान्य नहीं ठहरता, दोनों एक दूसरे से संपन्न होते हैं। इसीलिए यहाँ शेक्सपियर से कालिदास या टाल्सटाय से होमर और वाल्मीकि झूठे नही पड़ते, सब मिलकर राग- सत्य में कुछ नये आयाम जोड़ते हैं। और इस प्रकार उसकी एक सुंदरता, सत्यतर, पूर्णतर अवतारणा की ओर बढ़ते हैं। इसीलिए तो जो श्रेष्ठ साहित्य है, कला है, जिसमें प्राणों का स्पंदन है, मर्म को छूनेवाला राग-तत्व है, वह कम ही बासी या पुराना पड़ता है। हाँ, चिन्तन तत्व बासी भी पड़ता है और पुराना भी, जिस हेतु युग उसको अपनी कसौटी पर कसकर, पहले से चली आती हुई परंपरा में समेटकर या छोड़ कर आगे बढ़ जाता है।

अमृत राय[1] की मान्यता है कि परपरा लीक नही है। लीक तो रूढि है। जहाँ मनीषा लीक छोड़कर साहस-पूर्वक प्रयोग करती है वही परम्परा का सूत्रपात होता है। कवि ने संभवत इसी अर्थ मे 'सायर सिंह सपूत' के लीक छोड़कर चलने की बात कही है। जिसे हम आज परंपरा कहकर जानते हैं वह इन्ही साहसपूर्ण प्रयोगो की परंपरा है। अपनी विराट् जिज्ञासा से प्रेरित होकर आदमी ने जब पहली बार जीवन और मृत्यु, आत्मा और परमात्मा, स्वर्ग और नरक के प्रश्न उठाये थे तो कोई साधारण साहस का प्रयोग नही था। उससे भी पहले के अंधकार-युग मे जब उसने अग्नि का आविष्कार किया था तब वह भी ऐसा ही एक साहसपूर्ण प्रयोग था। या जब छोटे-छोटे कबीलो मे रहते हुए, हरदम आपस मे जूझते हुए, मारकाट करते हुए उसने सारी वसुधा के एक कुटुम्ब होने की बात कही थी तो वह भी एक असाधरण साहसपूर्ण कल्पना थी। या जब आगे चलकर उसने भाषा और लिपि का आविष्कार किया तो वह भी कोई सामान्य साहस का प्रयोग नहीं था। जाने कैसे-कैसे मेधावियों के कितने दीर्घ प्रयोग के फलस्वरूप मनुष्य जाति को यह भाषा और लिपि मिली है जो आज एक बच्चे को भी इतनी साधारण वस्तु मालूम होती है, परंपरा का यही असल गुण है कि वह हमारी धमनियो मे रक्त की तरह प्रवाहित रहती है और हमे उसकी चेतना भी नहीं होती।...सजीव परंपरा वही है जो अनजाने ही हमारे मानस लोक का वायुमंडल बन जाती है। साहित्य का वास्तविक कर्मक्षेत्र यही है, और यहीं पर वह हमारी चेतना को मुखरित और संवेदनाओं को परिष्कृत और समृद्ध करता है।

अमृत राय[2] के अनुसार युगधर्मी प्रयोगों से ही परंपरा का सूत्रपात हुआ था और उन्ही के सहारे उसमें नित नयी कड़ियाँ जुड़ती रही हैं—और उन सबको लिये-दिये, समय की धारा में छनती-निथरती परंपरा हम तक आती है, इसीलिए कि हम भी अपने युगधर्मी प्रयोगो से उसमे नया कुछ जोड़ सके। प्रयोगो की युगधर्मिता पर जितना बल दिया जाए कम है क्योंकि इसी में उनकी सार्थकता होती है।

---

1 अमृत राय, 'सह चिन्तन', हस प्रकाशन, पृ.–54

2 वही, पृ.–55

इस प्रकार प्रयोगकर्त्ता को दो अत्यंत गंभीर प्रश्नो का सामना करना पडता है- एक, रूढ़ि को परंपरा से कैसे अलग किया जाय? और दो, युगधर्म को हम कैसे पहचाने?

सच यह है कि परंपरा कभी किसी को एकदम साफ-सुथरी सजी-सँवरी नही मिलती। रूढ़ियाँ भी उसके साथ अनिवार्य रूप से लिपटी रहती हैं। स्वस्थ और अस्वस्थ तत्व एक में एक गुँथे रहते हैं। ऐसी स्थिति मे एक को दूसरे से अलग करके जो श्रेयस्कर है वरेण्य है उसको अपनाने और दूसरे को छोड़ने का दायित्व प्रयोगकर्ता का अपना दायित्व है। उदाहरण के लिए, आदिकाल से ऋषियो ने एक ऐसे संसार की कल्पना की है जिसमें ऊँच-नीच नही है, सब एक ही भगवान की संतानें हैं और सब बराबर हैं। राजा और प्रजा का भी भेद नहीं है क्योंकि जो राजा है वह भी इसीलिए राजा है कि वह लोकरंजन करता है। उसी प्रकार समस्त सृष्टि में एक ही ब्रह्म के निवास की कल्पना है; कायिक-वाचिक-मानसिक अहिंसा की कल्पना है; मनुष्य का हृदय देव मंदिर है, ऐसी कल्पना है। दूसरी ओर वर्ण विभक्त समाज का शास्त्रीय विधान है जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण मूर्ख भी हो तो पूजनीय है और शूद्र विनय की, सदाचार की, अपरिग्रह की, सत्य की मूर्ति हो तो भी अस्पृश्य; अंधा जातिवाद है जो सबको अपने से हीन और अपने को सबसे श्रेष्ठ मानता है; क्रूर से क्रूर हिंसा और धार्मिक विग्रह और जातीय विग्रह और रक्तपात का इतिहास है; धर्माचार के आवरण में निर्लज्ज पापाचार है जो कही तांत्रिक साधना के वामाचार के रूप में दिखायी पड़ता है और कहीं मंदिरों में, मठों में यों ही प्रतिष्ठित है, सब कुछ तो है। फिर, इन बद्धमूल रूढ़ियों को मानवतावाद की उदान्त परंपरा से कैसे अलग करके देखा जाय? या, वही बात दूसरे शब्दों में, कल्पना और जीवन-यथार्थ के बीच की खाई को कैसे पाटा जाय? सत्यान्वेषी इनमें से किसको सत्य माने? हर युग को ऐसे ही गडमड रूप मे परंपरा मिलती है। हमको भी उसी रूप में मिली है।

दूसरा प्रश्न युगधर्म को पहचानने का है। उसमें भी बिल्कुल ऐसी ही गडमड स्थिति है। और हर युग में रही है। यह कुछ हमारे युग की ही विशेषता नही है। एक साथ ही जीवन और मृत्यु की, आलोक और अंधकार की शक्तियाँ काम करती रहती हैं।

ऐसी स्थिति मे दो ही बाते सभव है। एक तो यह कि आदमी आज भी अपने उस विवेक पर अचल रहे जिसका संबल लेकर कदाचित् आज से अधिक विषम स्थितियो मे उसने पहली बार उस अंधकारयुग मे अपनी ये उदान्त कल्पनाएँ की थी और मन की वैसी ही शक्ति और साहस से काम लेते हुए अपनी गतिशील और व्यापक जीवन दृष्टि से आज के देवासुर-संग्राम मे भविष्य को आकार लेते देख सके, उसकी रेखाओं को पढ़ सके। और उसी संदर्भ मे यह भी संकेत दे सके कि मानवतावाद की जो परंपरा उस तक आयी है उसमें और कौन से नये तत्वो का समावेश हो जिसमे वह और भी अधिक सप्राण, तेजस्वी और जीवन-विधायक बन सके। दूसरा मार्ग अधिक सुगम है- संपूर्ण इनकार जीवन और प्रकाश की शक्तियो से। सब झूठ है। मनुष्य का यह आसुरी, वीभत्स, पाशव, पाप-पंकिल, कर्दमयुक्त रूप ही उसका अकेला सच्चा रूप है। मानवता एक कोरी अति-भावुकता है और कुछ नही, मात्र एक फेनिल उच्छ्वास। जभी तो मानवतावादी सैकड़ों-हजारों साल से अपना राग अलापते चले आ रहे हैं और कहीं नहीं पहुँचे। आदमी आज भी वही गुफा-मानव है जो उस आदिम काल मे था। इस उक्ति में कितना सत्य विचार है और कितना अविचार इसकी ओर ध्यान दिए बिना किसी को यह बात बहुत आधुनिक सी सुनायी पड़ सकती है, विशेषकर आज जब किन्ही शक्तिसंपन्न वैचारिक क्षेत्रों में समाजवादी-मानवतावादी जीवन दर्शन को नीचे गिराने के लिए या उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्ववाद की दुंदुभी बज रही है या बजायी जा रही है, लेकिन वस्तुतः यह बात भी उतनी ही एकांगी है जितना मुनष्य को सर्वथा निष्पाप समझना। उसका सच्चा रूप तो द्वन्द्वात्मक है, जहाँ पाप भी है पुण्य भी है और उन दोनों का परस्पर संघर्ष भी है। इस संघर्ष में—जिसमें बाह्य परिवेश का बड़ा विधायक महत्व होता है— कभी उसका एक और कभी दूसरा रूप अधिक बलशाली होता दिखायी पड़ता है।

इसका एक स्थूल-सा दृष्टान्त पानी के उस गिलास से दिया जा सकता है जो आधा भरा हुआ रखा है। दो आदमी आते हैं, उसको देखते हैं। एक कहता है, गिलास आधा भरा है। दूसरा कहता है, गिलास आधा खाली है। सब देखनेवाले की नज़र की बात है।

अमृतराय[1] के शब्दो मे, "जो साहित्य पूर्णत समाज को समर्पित है और युग को अभिव्यक्ति देना ही अपना धर्म मानता है वह उसी सीमा तक और उसी अर्थ मे युग को सार्थक अभिव्यक्ति दे पाता है जिस सीमा तक और जिस अर्थ मे वह रचनाकार की आत्म-अभिव्यक्ति है। और जिस अर्थ में और जितने सच्चे अर्थ में रचनाकार की यह आत्म-अभिव्यक्ति उसकी अपनी है, वह प्रयोग करने के लिए, हर बार हर नयी रचना के समय प्रयोग करने के लिए बाध्य है क्योकि भाववस्तु के शिल्प में ढलने की रचना-प्रक्रिया ही प्रयोग की है। सार्थक प्रयोग वही है वर्ना तो प्रयोग करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है, केवल अपनी कला-चातुरी दिखाने और लोगो को चौंकाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। वह घटिया प्रयोग है बल्कि उसको बहुत बार प्रयोग कहना भी नहीं चाहिए क्योंकि वह प्रयोग नही इसका-उसका अनुकरण या अनुधावन होता है।"

वस्तुतः जो सच्चा प्रयोग होता है उसको अपने समर्थन के लिए पोथे नहीं लिखने पड़ते क्योंकि वह रचना के ब्रह्म की तरह, स्वर के नाद की तरह, उसी में स्वयं प्रकाशित रहता है। रचना से अलग करके उसको देखा भी नही जा सकता, जैसे किसी अंग की स्फूर्ति को उस अंग से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

लेकिन अमृतराय[2] का मानना है कि हमारी मानवतावादी सांस्कृतिक परंपरा केवल भावों की ही परंपरा नहीं है। हमारी मानवतावादी सांस्कृतिक परंपरा जहाँ भावों की परंपरा है वही भाषा की भी परंपरा है। क्योंकि किसी के लिए हो न हो, कवि के लिए शब्द ही ब्रह्म है। शब्दों से ही साहित्य रचा जाता है। शब्द ही उसको अपने मानव उत्तराधिकार में मिलते हैं, भाषा तो उसको स्वयं ही गढ़नी पड़ती है। उसकी अपनी शब्द-योजना ही उसकी भाषा होती है। जो शब्द घिस-पिटकर मुर्दा हो जाते हैं उनको वह कभी छोड़ भी देता है और कभी किसी नये अपूर्व संदर्भ में उनका प्रयोग करके उनको एक नयी अर्थवत्ता दे देता है। भाषा को संगीत की लय देता है, नये-नये बिम्ब देता है, लोकभाषा

1. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ–58
2 अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ–59

से कहावते और मुहावरे उठाकर उन्हे साधु भाषा का अंग बना देता है और अनेकानेक रूपों में भाषा को समृद्ध करता है, उसे नया विस्तार देता है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर से पहले की अंग्रेजी को आज की अंग्रेजी से, और रवीन्द्रनाथ से पहले की बँगला को आज की बँगला से मिलाकर देखने पर भाषा को साहित्यकार की देन का पता चलता है। अपनी इस हिन्दी से भी जरा खुसरो, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, नजीर को अलग करके देखिए आपकी भाषा का क्या रूप बनता है।

इस प्रकार हमारी मानवतावादी सांस्कृतिक परंपरा जहाँ भावों की परंपरा है वहीं भाषा की भी परंपरा है। भाषा-परंपरा की इस समृद्धि का रहस्य यही है कि युग-युगान्तर से मानव जाति के श्रेष्ठतम मनीषी और साहित्य-सर्जक अपने सूक्ष्म विचारों और कोमल से कोमल संवेदनाओं की सार्थक और सजीव अभिव्यक्ति के लिए इसी भाषा के साथ प्रयोग करते आये हैं।

अमृत राय[1] के शब्दों में, "भाव और भाषा की वही परंपरा हम तक आयी है। हम भी उसमें कुछ जोड़ना चाहते हैं क्योंकि हमारे पास चेतना और राग की अपनी विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं जो हमसे अभिव्यक्ति माँगती हैं। उसी के लिए हमारा प्रयोग है।"

अब तक बराबर प्रयोग ही होता आया है लेकिन हमारा प्रयोग सार्थक हो और प्रयोगों की उस अनादि-अनंत शृंखला की, जिसका ही दूसरा नाम परंपरा है, एक कड़ी बन सके, उसकी दो आवश्यक प्रतिश्रुतियाँ हैं-एक तो अपनी परंपरा का बोध और दूसरे अपने युग का बोध।

आजकल कविता और कहानी में सर्वत्र जो प्रयोगों की धूम है, अमृत राय[2] के अनुसार उसका एक कारण है, हम एक युगसंधि के बीच से गुजर रहे हैं। जीवन के साथ जीवन-मूल्य भी तेजी से बदल रहे हैं। ऐसे युग में भावात्मक सृष्टि के स्तर पर भी प्रयोगो को एक विशेष गति मिले, यही स्वाभाविक है सहज है।

---

1 अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ.–59

2 वही, पृ. – 60

लेकिन जिस अर्थ मे और जिस सीमा तक हमारे नये युग का निर्माण हमारी जातीय प्रतिभा और हमारे जातीय संस्कारो से दूर हटा है और पश्चिम के म्रियमाण सामाजिक तत्वो द्वारा आरोपित है, उसी अर्थ मे और उसी सीमा तक हमारे सास्कृतिक प्रयोगो मे भी यह विजातीय आरोप देखा जा सकता है। यही पर सजग कलाकार के अपने विवेक की परीक्षा होती है। यह ठीक है कि दुनिया बहुत छोटी हो गयी है, सास्कृतिक आदान-प्रदान सबके घर की चीज हो गयी है लेकिन मानव संस्कृति की उस गडमड परंपरा मे से हमको अपने लिए क्या लेना है और क्या नही लेना है, इसका निर्णय अब भी हमारे विवेक को ही करना होगा। पहले के कलाकार ने भी यही किया था, आगे के कलाकार को भी यही करना होगा। अपना विवेक वह कभी किसी के हाथ बंधक नही रख सकता और जब रखता है तब साहित्य का ह्रास होता है।

यह आवश्यक नहीं है कि मानवतावादी साहित्य-परंपरा से मिले हुए नीति-आचार सम्बन्धी सब विधि-निषेध परवर्ती पीढ़ियाँ यथावत् स्वीकार किए रहती हैं। कदापि नहीं। नये जीवन-मूल्यों की तलाश में परम्परा से मिले हुए जीवन-मूल्यों का परीक्षण भी सम्मिलित है।

अमृत राय[1] के शब्दों में, "यह छाँटना-पछोरना बराबर चलता रहता है। जब जो व्यवस्था बासी-पुरानी पड़ जाती है या समाज की स्वस्थ प्रगति में बाधा पहुँचाने लगती है (जैसे नारी को घर के भीतर असूर्यम्पश्या बनाकर रखने की बात) या स्वस्थ समाज की संरचना का प्रारूप बनाने वाले या उसकी परिकल्पना करने वाले विचारकों को कोई विकृति दिखायी पड़ती है या सामाजिक विषमता दिखायी पड़ती है, दारुण अन्याय की गंध मिलती है (जैसे विधवा-विवाह का निषेध या वह अमानुषिक विधान जो एक आदमी को दूसरे के लिए अस्पृश्य बना देता है) उसको हर समाज का उदारमना, न्यायपरायण, क्रांतिचेता विचारक रूढ़ि क़रार देकर छाँटता चलता है और जो कुछ उसे जीवन्त और लोक-मांगलिक लगता है उसको अपनी परम्परा का अंग बना लेता है।"

---

1. अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हंस प्रकाशन, सन् 1984 ई०, पृ.–13

इतना ही नही, बहुत बार यह भी देखने मे आता है कि सूक्तियो के समान वे पुरानी मूल प्रतिज्ञाएँ तो बनी रहती हैं लेकिन उनका भाष्य करते समय, पल्लवन करते समय, नयी पीढ़ी कहीं कुछ छाँट देती है, कहीं कुछ जोड देती है, कही किसी बात को जो पहले गौण थी अब अपने नये संदर्भ मे रेखांकित करना उसे जरूरी मालूम होता है। उदाहरण के लिए, हमारे ऋषियों ने अस्तेय का विधान किया : चोरी मत करो। उधर बाइबिल ने कहा, डू नॉट स्टील। कालान्तर मे जब पूँजी की अर्थ-व्यवस्था आयी तब यह स्थिति पैदा हुई कि वस्तु का उत्पादन तो कोई और करता था पर उसका लाभ पूँजीपति को मिलता था-पूँजीपति दिनोंदिन मालामाल होता जाता था और मज़दूर उतना ही गरीब और बदहाल। तब उन्नीसवीं सदी के एक मानवतावादी फ्रांसीसी दार्शनिक ने कहा, ऑल प्रॉपर्टी इज़ थेफ्ट-सब सम्पत्ति चोरी है-जो स्पष्टतः उसी मूल सिद्धांत का पल्लवन है। उसी प्रकार हमारे ऋषियों ने एक और यम हमारे सामने रखा, अपरिग्रह-अर्थात् आवश्यकता से अधिक मत लो, संग्रह मत करो, सुख संतोष करने में है। लेकिन अमृत राय[1] का मानना है कि सामाजिक विकास के क्रम मे यह सिद्धांत कही किसी कोने में धूल खाता पड़ा रहा।

'प्रयोग, वस्तुतः आधुनिकता का प्रस्थान-बिन्दु है।'[2] परम्परा जब जड़ीभूत और रूढ़ हो जाती है, तब उसमें निष्क्रियता आ जाती है, साथ ही काल की लम्बी दूरी तक करने के बाद जब वह मानवीय संवेदना को उकसाने में सक्षम नहीं हो पाती, तब 'नये प्रयोग' की आवश्यकता महसूस होने लगती है, और पुनः उसका प्रायोगिक संधान भी होता है। 'प्रयोग' की जहाँ 'नवीनता' होती है, वहीं उसे 'आधुनिकता' का समानार्थी और कभी-कभी तो उसे ही 'आधुनिक' मान लिया जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि कालांतर में जो भी 'प्रयोग' होते हैं, वे सभी के सभी वर्तमान संदर्भों और परिप्रेक्ष्य में ही। साथ ही, प्रायः सभी प्रयोग परम्परा के विरूद्ध

---

1. अमृत राय, 'विचारधारा और साहित्य', हस प्रकाशन, पृ.–13
2. हिन्दुस्तानी, भाग–33, अंक–1, डॉ नद कुमार राय, पृ. – 52

होते है। फिर भी प्रयोग का परम्परा से कोई लगाव नही होता, ऐसी बात नही; क्योकि परम्परा से ही प्रत्यय (आइडियाज) ठोस और सश्लिष्ट बनते हैं। अगर न भी बने, तो इतना तो जरूर है कि प्रयोग के लिए प्रयोक्ता परम्परा से इतर होकर नयी जमीन तैयार करता है, किन्तु इसके लिए भी तो पूर्वागत परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है-और नही, तो ऐतिहासिक चेतना तो किसी-न-किसी रूप मे कारगर जरूर होती है; अन्यथा प्रयोग नूतन न होकर मात्र आवृत्तिपरक ही होकर शेष रह जाए, जिसका प्रभाव 'शून्य' से कुछ अधिक सम्भव नहीं।

मार्क्सवादी विचारधारा का पोषक होने के बावजूद अमृत राय को रूपगत प्रयोगों से वर्जना नही है, वह इसे आवश्यक मानते हैं। अमृत राय[1] ने स्पष्टतः लिखा है, "हम जोर देकर कहना चाहते हैं कि हमारा झगड़ा रूपगत प्रयोगों से नहीं है। इतना ही नहीं, हम उनको नितान्त आवश्यक मानते हैं। नयी जीवन-वस्तु को अपनी अभिव्यक्ति के लिए नये रूप की सृष्टि करनी ही पड़ती है। जहाँ पुरानी दृष्टिभंगी नये को देख न पा रही हो, पुरानी लेखन-परिपाटी अभव्यक्ति को लँगड़ा कर रही हो, पुरानी भाषा बासी पड़कर अपना चमत्कार खो चुकी हो, वहाँ साहसपूर्ण नये प्रयोग करके ही साहित्य के ठहरे हुए रथ को आगे बढ़ाया जा सकता है। कला की प्रयोगधर्मिता उसकी जीवन-धर्मिता का ही दूसरा नाम है। जहाँ कला में प्रयोग नहीं होते, वहाँ कला मर जाती है।"

लेकिन यह सत्य है कि 'शुद्ध' कला के फेर में 'शुद्ध' रूप के आविष्कार में लगी हुई प्रयोगशीलता वंध्या सिद्ध होती है।[2]

(ग) आधुनिकता और प्रगतिशीलता :

आखिर सच्ची आधुनिकता है क्या चीज, उसकी पहचान क्या है, परिभाषा क्या

1 अमृत राय, 'सह चिन्तन', सन् 1978 ई0, हंस प्रकाशन, पृ.–71–73

2. वही

है? इन सवालो का उत्तर अमृत राय[1] यह कहकर देते हैं, "असल आधुनिकता वाह्य आचार मे नही मन के सस्कार मे होती है।"

मन के संस्कार से आशय है मन की वह वृत्ति जो मध्ययुगीन रूढ़ियो और अंधविश्वासो से नाता तोड़कर आधुनिकतम ज्ञान के आलोक मे, तर्क और विवेचना की कसौटी पर जीवन के हर व्यापार को परखती है और स्वयं अपने विवेक से किसी निष्कर्ष पर पहुँचती है।

यह ठीक है कि मनुष्य के जीवन-अनुभव से संबंध तोड़ लेने पर बुद्धि वंध्या हो जाती है और तब तर्क और विवेचना, बुद्धि का अपच और बुद्धि का आडंबर मात्र होकर रह जाती है। यह भी ठीक है कि तर्क और विवेचना के बाद भी आदमी गलत नतीजो पर पहुँच सकता है, या ऐसे नतीजों पर जो आज सही हैं और कल गलत हो जाते हैं। तो भी इससे यह निष्कर्ष कदाचित् नहीं निकलता कि तर्क और विवेचना को अपदस्थ करके उसके स्थान पर अंधविश्वास और अंधश्रद्धा को बिठाल दिया जाए। सदियों उनका राजत्व समाज में रहा है और उनसे मनुष्य जाति का जितना अकल्याण हुआ है उसका एक अंश भी तर्क और विवेचना का आश्रय लेने के कारण नहीं हुआ। इसके विपरीत मनुष्य जाति ने अब तक जो उन्नति की है वह तर्क और विवेचना का आश्रय लेकर ही की है।

अमृत राय[2] कहते हैं कि यह तो जब से हमारा समाज भीतर से गलने लगा, हमारी तर्क और विवेचना की शक्ति छीजने लगी और हम अंधश्रद्धा को पकड़कर बैठ गये, तब से हमारा समाज जड़ हो गया।

अमृत राय[3] लिखते हैं कि माना कि तर्क और विवेचना का आश्रय लेकर भी आदमी भटक सकता है, लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि उस कुतुबनुमा को बेकार जानकर फेंक दिया जाय।

---

1. वही, पृ –31
2. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हस प्रकाशन, पृ.–31
3. वही

अमृत राय[1] आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं, ''यह एक विचित्र विभ्राट् है कि एक ओर मनुष्य का तर्क और विज्ञान विजयी हो रहा है और दूसरी ओर नये दार्शनिक उसके प्रति हमारे मन मे अनास्था उत्पन्न करके हमें एक नयी अंधश्रद्धा की ओर प्रेरित कर रहे हैं। इस नयी अंधश्रद्धा के अनेक रूप हैं, नाम हैं, आयाम हैं। उनमे से एक है 'कल्ट आफ़ दि इर्रेशनल'–बुद्धि की विडंबनाओ और वंचनाओं को छोड़ो और मानव मन की अज्ञात और अज्ञेय अँधेरी गुफ़ाओ मे जाकर बैठो जहाँ अभी तक बुद्धि के चरण नही पड़े हैं। इसी नयी अंधश्रद्धा का दूसरा रूप है कैथलिक धर्म का पुनरूत्थान। नये-नये चमचमाते हुए शब्दों की सज्जा में जब ये चीजें हमारे सामने आती हैं तो हममें से अनेक इनको आधुनिक और अति-आधुनिक भावधारा समझकर इनकी ओर लपकते हैं, अगर और किसी कारण से नहीं तो इसीलिए कि वह योरप और अमरीका से आती हैं जिन्हे हमने आधुनिकता का महातीर्थ समझ रक्खा है।''

अमृत राय[2] की चिन्ता यह है कि पता नहीं यह दिमागी गुलामी कब खत्म होगी जो योरप से आनेवाली हर चीज को आँख मूँदकर गप्प से गपक लेती है। मुश्किल यह है कि योरप में भी सब कुछ आधुनिक नहीं है, भले ही साज-सज्जा कितनी ही आधुनिक हो। उस साज-सज्जा के पीछे जो असल तत्व है उसको पकड़ पाने का विवेक आवश्यक है, अन्यथा एक दूसरे बहुरूपिये के जाल में फँसने के अलावा और गति नहीं।

अमृत राय[3] के शब्दों में, ''सच्ची आधुनिकता वह है जो वर्तमान में खड़ी होकर भविष्य की ओर देखती है। वर्तमान में खड़े होकर अतीत की ओर देखना आधुनिकता नहीं कहा जा सकता। वह समय की धारा को पीछे मोड़ने की क्रिया है।''

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आधुनिकता समाजवाद का पर्याय है। अमृत राय[4] के मतानुसार, ''आधुनिकता का अर्थ केवल इतना है कि व्यक्ति अपने परिपार्श्व

1. वही, पृ. – 32
2. वही
3. वही, पृ – 33
4 वही, पृ –34

के संश्लिष्ट आधुनिक जीवन को नवीनतम ज्ञान-विज्ञान के आलोक मे देखे। उस जगह पर फिर यह जरूरी हो जाता है कि वह और सब चीजो के साथ-साथ समाजवाद को भी देखे- जाने-परखे, समाजवादी वह हो या न हो, कम से कम यह जानने की कोशिश करे कि यह समाजवाद आखिर है क्या बला। अगर कोई आदमी यह कहता है कि मैं बड़ा आधुनिक व्यक्ति हूँ लेकिन मुझे यह पता नही कि मार्क्स कौन था, लेनिन कौन था, सोवियत रूस के नाम मे यह 'सोवियत' की सूँड़ क्यो लगी है- तो मुझे उस आदमी के आधुनिक होने मे संदेह है। उसी तरह जैसे मुझे उस व्यक्ति के आधुनिक होने में सन्देह होगा जो जात-पाँत और टोने-टोटके और ऐसी ही और भी दकियानूस चीजो से चिपका बैठा है।

उसी तरह मुझे उस व्यक्ति को आधुनिक मानने में आपत्ति होगी जो स्त्री को पुरूष के बराबर दर्जा नही देता, प्रतिभा में, बुद्धि मे, कौशल मे, और उसे पुरुष की क्रीड़ा पुत्तली समझता है, उसकी वासनापूर्ति का माध्यम। उसी तरह मुझे उस व्यक्ति को आधुनिक मनस्क मानने में आपत्ति होगी जो इस बात को नही मानता कि सब इंसान बराबर हैं, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा, और सब देश बराबर हैं, किसी को किसी पर राज करने का या किसी को दबाकर रखने का हक नहीं है।"

आज हमारे सामने ऐसी बहुत सी कलाकृतियाँ पश्चिम से आती हैं जो पतनशील महाजनी समाज-व्यवस्था के संस्कारों को रूप और वाणी देती हैं और जिन्हे अपने समस्त शिल्पाडंबर के बावजूद आधुनिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी मूल भावधारा पुरानी है। सेक्स, मारकाट, भगवद्भक्ति को नयी चाशनी में लपेटकर पेश करने से कोई चीज नयी या आधुनिक नहीं हो जाती। इसलिए उनको आधुनिकता की गीता या प्रमाण मानने से हम कहीं न पहुँचेंगे। उनके प्रति भी हमारी दृष्टि आलोचनात्मक होनी पड़ेगी और जहाँ तक उनसे हमारे भावकोष में नया कुछ जुड़ता है, हमें कोई नयी रोशनी मिलती है या हमारी संवेदनाओं को नया कोई संस्पर्श मिलता है वहीं तक हम उन्हें आधुनिक कह सकेंगे।

मानव जाति के भावकोष-वाली बात जो अभी ऊपर कही गयी, उससे दो समान

निष्कर्ष निकलते हैं-आधुनिकता का निरूपण करते समय हम न तो देश की चौहद्दी बाँध सकते हैं और न काल की सीमा-रेखा।

देश की चौहद्दी न बाँधने का अर्थ मोटे शब्दो मे यह है कि आधुनिकता के संकेत के लिए हरदम योरप और अमरीका की तरफ टकटकी लगाये रहना बेतुकी बात है। आधुनिकता किसी देश या महादेश की बपौती नही है। सब देश उसमें बराबर के भागीदार हैं और जहाँ संसार के अन्य देशो की ओर देखने की जरूरत है वहाँ अपने देश की ओर देखने की भी जरूरत है। और शायद ज्यादा जरूरत है क्योकि पुरातनपंथी मूल्यों और आधुनिकता के बीच हमारा संघर्ष यही होना है और हो रहा है और यह जानना जरूरी है कि कौन से तत्व वास्तव में आधुनिक हैं और कौन से तत्व पुरातनपंथी।

आधुनिकता काल की सीमा-रेखा नही मानती, इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। हर चीज जो समसामयिक या वर्तमान कालीन है आधुनिक नहीं है—इसका प्रमाण तो हैं वे अनेक रचनाएँ जो लिखी आज जा रही हैं मगर हैं पाँच सौ और एक हजार बरस पुरानी, कथ्य और शिल्प दोनों में। हिन्दी में ऐसे अनेक महाकाव्य आए दिन लिखे जा रहे हैं।

और जो चीज समसायिक या वर्तमानकालीन नहीं है वह भी आधुनिक हो सकती है-इसका प्रमाण हैं ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ, प्राचीन यूनान के नाटककार ईस्किलस, यूरिपिडीज, सोफोक्लीज और उनसे भी पचीसों हजार बरस पहले स्पेन और फ्रांस की गुफाओं में आँके गये भित्तिचित्र, बाइबिल की कहानियाँ, कबीर की साखियाँ, जातक कथाएँ और भी न जाने क्या-क्या जो काल का इतना सब व्यवधान होते हुए आज भी इतना आधुनिक जान पड़ता है। इसलिए अमृत राय[1] के अनुसार, ''यह कहना शायद ठीक होगा कि अगर आधुनिकता से हमारा आशय अनु-दिन अनुक्षण बदलनेवाला फैशन नहीं है तो हमें उसके लिए काल के सीमान्त को काफी पीछे ले जाना पड़ेगा। इतने पीछे

1. अमृत राय, 'सह चिन्तन', हंस प्रकाशन, पृ.- 36

कि वह मनुष्य जाति की संपूर्ण लिपिबद्ध रेखाबद्ध सांस्कृतिक उपलब्धियों को अपनी अँकवार मे ले सके, इसलिए नही कि सब का सब आधुनिक है बल्कि इसलिए कि उनमे से अनेक मे कुछ न कुछ आधुनिक तत्व है जिसे संग्रह करना जरूरी है।"

इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि अगर कोई सच्चे अर्थो मे अपने मन का आधुनिक संस्कार करना चाहता है तो उसके लिए जरूरी है कि वह सब कुछ देखे जो देखने योग्य है और उसमे से अपने विवेक के अनुसार संग्रह करे- कामू का उपन्यास या टेनेसी विलियम्स का नया नाटक या इलियट का नया कविता संग्रह या नोबोकोव की लोलीटा शान के साथ लेकर घूमना काफी नहीं है।[1]

सच पूछा जाय तो नवीनता के प्रति आकर्षण किसे नहीं होता? सब तो नित नए की चाह करते हैं। प्रकृति में भी नित नए परिवर्तन होते ही रहते हैं। अतः नए की चाह रखना मनुष्य को प्रगतिवादी बनाता है। प्रकृति के अनुकूल बनाता है।

1 'सह चिन्तन', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ.–37

तीसरा अध्याय

अमृत राय की रचना दृष्टि
और
उनका कथा–साहित्य

(क) अमृत राय की कहानियाँ

(ख) उपन्यास

अमृत राय एक ऐसे दृष्टिसंपन्न साहित्यकार है, जिन्होने मौलिक सृजन के साथ ही साथ मौलिक चिन्तन भी किया है और यही कारण है कि उनकी निजी रचना-दृष्टि भी है। बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने अपनी रचना-दृष्टि को अपनी कृतियो मे प्रतिष्ठित भी किया है। सामान्यतया एक ही व्यक्ति के चिंतक और रचनाकार रूपो के बीच अंतर्विरोध की स्थितियाँ परिलक्षित होती हैं या हो सकती है, परतु अमृतराय के यहाँ इन दोनो रूपो के बीच एक सहज सामंजस्य है। डॉ. राजेश दूबे[1] के अनुसार, "इसका प्रधान कारण है एक विशिष्ट विचार दर्शन से उनके रचनाकार और उनके विचारक दोनो का अन्तर्वर्ती सम्बन्ध और कहना न होगा कि विचारधारा के इस समान और शक्तिशाली सूत्र ने दोनो को संपुंजित रखा है।"

उल्लेखनीय है कि प्रगतिशील रचनाकारों मे अमृतराय और गजानन माधव मुक्तिबोध दो ही ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होने रचना-प्रक्रिया पर गंभीरतापूर्वक और सविस्तार लिखा है। इस दृष्टि से अमृतराय की रचना दृष्टि हिन्दी मे प्रमुख स्थान रखती है।

ध्यातव्य है कि अमृतराय[2] ने अपने साहित्य-चिन्तन और रचना दृष्टि मे मार्क्सवादी विचार दर्शन की मूलभूत प्रेरणा को स्वीरकार किया है और अपनी रचना दृष्टि का बीज मार्क्स के इस कथन को माना है—"मनुष्य का दैनन्दिन जीवन उसकी चेतना पर आश्रित होता है तथा सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ ही साहित्यकार की चेतना का निर्माण करती हैं, समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर।" जहाँ अमृतराय यह लिखते हैं कि साहित्यकार का प्रभाव समाज पर पड़ता है वहाँ वे समाज के प्रति साहित्यकार का एक विशेष दाय भी बताते चलते हैं। उनकी धारणा है कि साहित्यकार जब किसी विशाल जन-जीवन का चित्रण करने को प्रतिबद्ध होता है तो उसे जनता के बीच आकर खड़ा होना पड़ता है और उनके सुख-दुख की अनुभूतियो के साथ अपने को एकाकार करना पड़ता है।[3]

1 डॉ राजेश दूबे, हँसते–बोलते दस्तोज, पृ–6

2 अमृत राय, नयी समीक्षा, पृ–5

3. वही, पृ–15

लेकिन इसका आशय यह नही निकालना चाहिए कि साहित्यकार परिस्थिति और परिवेश का दास होता है। अमृतराय[1] ने माना है, "कलाकार परिस्थितियो से प्रभावित होता हुआ भी उनका दास नही है, उसकी अपेक्षित स्वतत्रता उसके पास रहती है।"

साहित्य-दृष्टि के क्षेत्र मे अमृतराय की सबसे महत्त्वपूर्ण देन रचना-प्रक्रिया संबंधी उनका विश्लेषण है। रचना-प्रक्रिया पर अपना दृष्टिकोण साफ करते हुए अमृतराय ने अनेक प्रश्नों को उठाया है, जिन्हें निम्न बिन्दुओं में दर्शाया जा सकता है।

सृजन का क्षण : अमृतराय सवाल उठाते हैं कि कविता का सृजन क्या संपूर्णतः उसी क्षण में समाहित है, जबकि वह लेखनी या कूँची की नोक से कागज पर उतरती है? सवाल का जवाब देते हुए अमृतराय[2] कहते हैं, "क्या वस्तुतः कविता प्रतिभा के स्पर्श के एक क्षण का ही नाम है? क्या कविता कागज पर लिखी जाने से पहले मन भींगता नही रहा? प्रश्नों का रंग निखरता नहीं रहा? अनुभूतियों का रस छन-छनकर शब्द-कणो का रूप लेता नही रहा? रूप, गंध, स्पर्श, ध्वनि, आत्मा, संकल्प, शास्त्र विद्रोह इन सबके संयोग से जो रागबोध बनता है वह क्या सृजन के उस विशिष्ट क्षण के पहले तक मुमूर्षु था? सृजन की प्रक्रिया नहीं, तो फिर क्या है?"

अपने निजी अनुभवों का उपयोग करते हुए अमृतराय[3] ने कहा है- "जीवन में हरदम कुछ न कुछ घटित होता रहता है। लोग जीते हैं, मरते हैं, मिलते हैं, बिछुड़ते है, हँसते हैं, रोते हैं, कुछ बातें स्वयं रचनाकार पर बीतती हैं और कुछ को वह दूसरे पर बीतते देखता है। मतलब यह कि बनायी हुई कहानियों से ज्यादा जानदार और ज्यादा रंगीन कहानियाँ हरदम आँखों के सामने होती रहती हैं। बस इतना है कि अपने मन का रंग इतना चटक हो जाय कि एक बार उसमें डुबोकर कहानी को निकाल लिया जा सके।"

---

1. वही, पृ.–11
2 अमृत राय, सह चिन्तन, हंस प्रकाशन, पृ.–39
3 वही, पृ.–40

आशय यह कि रचनाकार को जीवन के इस परिदृश्य से जो कुछ भी मिलता है वह सब का सब उसके काम का नही होता, कुछ को वह देख पाता है, कुछ को नही देख पाता, फिर भी ज़िन्दगी से पूरी कहानी रचनाकार को मिले न मिले, कथा के बीज उसे चारो तरफ छिटके हुए मिल जाते हैं। बीज मन मे पडता है और उसी क्षण से जाने-अनजाने कथा का सृजन होने लगता है, वैसे ही जैसे माँ के गर्भ मे पहुँचते ही बच्चे का सृजन होने लगता है। वह सृजन का क्षण नहीं प्रसव का क्षण है, जबकि बच्चा धरती पर गिरता है या कविता कलम की नोक से उतरकर कागज पर आती है। सृजन तो एक लम्बी प्रक्रिया का नाम है जिसमें नैरन्तर्य है जो काल का एक अविच्छिन्न प्रवाह है जिसमें मनुष्य जाति के तत्त्व-बोध, राग-बोध और सौन्दर्य बोध की त्रिवेणी का संगम होता है और वही उसकी मर्यादा है, अनुशासन है। कला का सृजन उसी क्षण की उपलब्धि नहीं, दीर्घ साधना की, तप की उपलब्धि होती है। साधना कला का रूप निखारने मात्र की नहीं, संपूर्ण जीवन की साधना है।[1]

सृजन की प्रक्रिया में रचनाकार की मनोरचना का महत्त्व स्वीकार करते हुए अमृतराय[2] कहते हैं, "रचनाकार जिस भाव को भाषा मे ढालना चाहता है प्रारम्भ में उसका स्वरूप भी रचनाकार के आगे स्पष्ट नहीं होता। उसकी एक धुँधली सी प्रतीति मात्र होती है, जो रचना की क्रिया में ही रचनाकार के आगे धीरे-धीरे खुलती और आकार ग्रहण करती है जैसे भोर का धुँधलका छँटता है और धीरे-धीरे सब कुछ आलोकित हो उठता है, मकान, पेड़ सब दिखायी देने लगते हैं।"

आशय यह कि कोई भी रचना प्रतिभा का आकस्मिक विस्फोट न होकर रचनाकार की लम्बी साधना की परिणति होती है।

साहित्यकार और उसका परिवेश : वास्तव में साहित्य की सृष्टि सामान्य ज्ञान के भीतर से नहीं, विशिष्ट ज्ञान के भीतर से होती है, धुँधले-धुँधले ढंग से जानने के

1. अमृत राय, सह चिन्तन, हंस प्रकाशन, पृ –41
2 वही, पृ.–59

भीतर से नही, स्पष्ट और गहरे और प्रामाणिक रूप से जानने के भीतर से होती है। अमृतराय[1] की मान्यता है, "बैठकबाजी बहुत अच्छी चीज है, आदमी उससे भी बहुत कुछ सीख सकता है, लेकिन एक लेखक दूसरे लेखक के साथ रोज-रोज बैठकर साहित्यिक दलबंदी के अलावा और क्या सीख सकता है, यह सोचने की बात है। हमारी समझ में इससे कहीं अधिक उपयोगी एक कहानीकार के लिए यह होगा कि वह गैर-साहित्यिक साधारणजनों के बीच अधिक उठे-बैठे, क्योंकि उसको अपनी कहानियाँ और अपनी कहानियो के पात्र उन्हीं के बीच मिलेंगे।"

आशय यह है कि अमृतराय साहित्य और सामाजिक जीवन की अभिन्नता को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। कभी-कभी रचनाकार अपने निजी अनुभवों की सीमित दुनिया को ही प्रस्तुत करके समूची स्थिति से परिचित होने का भ्रम पैदा करता है। यही कारण है कि अमृतराय[2] ने नये रचनाकारों से निवेदन किया है, "लेखक और उसके पाठक के बीच समान वस्तु यह मानव परिवेश ही है जो अपने साथ संवेदनाओं का एक पूरा संसार लिए रहता है और इन्हीं संवेदनाओं के सिक्कों से साहित्य का कुल व्यापार होता है। इसलिए परिवेश से जुड़ना, गंभीर ढंग से जुड़ना, सप्राण और सार्थक ढंग से जुड़ना स्वयं अपनी सजीवता के लिए आवश्यक है, मनुष्य के नाते भी और साहित्यकार के नाते भी।"

अमृतराय की मान्यता है कि जब रचनाकार समाज से सही ढंग से जुड़ेगा तभी सही अर्थों में सजीव रचना का उद्भव होगा। लेकिन परिवेश से जुड़ने का यह मतलब नहीं निकालना चाहिए कि व्यक्ति की उपेक्षा कर दी जाय और केवल 'सामाजिक कहानी' को मान्यता दी जाय। इसका आशय इतना ही है कि सर्जनात्मक स्तर पर भी अपने परिवेश को अपने ढंग से अपने भीतर ग्रहण करने की कला सीखी जाय। अमृतराय[3] का मानना

1. अमृत राय, आधुनिक भावबोध की संज्ञा, हंस प्रकाशन–पृ.–44
2. वही–पृ.–41
3. वही, पृ.–46

है, "वही लिखो जो तुमने जिया है और जो नया लिखना है उसको पहले जियो।"

अमृतराय[1] ने और स्पष्ट करते हुए लिखा है, "लेखक के अपने परिवेश से जुडने का मतलब सामाजिक कार्यकर्ता के रूप मे जुड़ना नहीं है अर्थात् उसका मतलब यह नहीं है कि वह छात्रो को बीच छात्रो का, मजदूरो के बीच मजदूरों का, किसानो के बीच किसानो का, दफ्तर के बाबुओ चपरासियो के बीच उनका झण्डा लेकर जुलूस के साथ नारा लगाते घूमे, उसका मतलब लेखक के रूप में उनसे अधिकाधिक गहरे और संश्लिष्ट रूप मे जुड़ा रहना है, जिसमे पता रहे कि समाज के ये विभिन्न अंग क्योंकर अपना ज़िन्दगी जीते हैं, क्या खाते हैं, कैसे रहते हैं, क्या सोचते हैं, आपस में क्या बाते करते हैं, ज्वलन्त समस्याएँ उनकी क्या हैं। यही ठोस ढंग से अपने परिवेश के साथ जुड़ना है, अपने दिशा काल को पहचानना है और गहरे पैठ कर देखिए तो यही श्रेष्ठ लेखन का असल रक्त-माँस है।"

साहित्य की प्रतिबद्धता : अमृतराय प्रतिबद्धता जैसे प्रश्न को राजनैतिक प्रश्न के रूप में नहीं देखते, प्रतिबद्धता उनके लिए कोरे राजनैतिक उद्देश्य से कहीं अधिक एक मानवीय प्रश्न है। अमृतराय[2] के शब्दों में, "जैसे पतंग सारे आकाश में उड़ती रहती है, लेकिन उसकी डोर नीचे किसी के हाथ मे रहती है जो खुद मजबूती से धरती पर पैर जमाए खड़ा है। यह डोर न हो तो पतंग जाने किस घाट लगे... और डोर के बिना वह आसमान पर चढ़ेगी भी कैसे? ... साहित्यकार का कर्म भी कुछ वैसा ही है। धरती पर मजबूती से आसन जमाए साहित्यकार अपनी उसी प्रतिबद्धता की डोर से धरती और आकाश को एक किये रहता है।" पतंगवाला रूपक अपने दोनो ही अर्थों में उसके कर्म पर पूरी तरह से सच्चा उतरता है। एक तो अपनी उस प्रतिबद्धता की डोर से बँधा रहने के कारण उसका कर्म तरह-तरह के थपेड़ों में पड़कर बहकने या भटकने नहीं पाता और कभी कुछ भटकाव आता भी है तो फिर जल्दी ही अपना रास्ता मिल जाता है। दूसरे

1. वही, पृ.–43
2. वही, पृ –52

यही प्रतिबद्धता उसकी रचना- वृत्ति की स्फूर्ति भी होती है।

अमृत राय[1] साधिकार कहते हैं कि प्रतिबद्धता की डोर न होने से साहित्यकार इधर-उधर भटकने लगता है। उनका मानना है, "प्रतिबद्धता सबसे पहले लोक-हित के प्रति होती है। यह प्रतिबद्धता अपने भीतर से अपनी चेतना और विवेक के भीतर से आने पर ही सच्ची और सृजन-कर्म के लिए शुभ सिद्ध होती है। बाहर से आनेवाली किसी भी संस्था या दल या प्रतिष्ठान द्वारा आरोपित प्रतिबद्धता अंततः स्वतंत्र सृजन कर्म में बाधा पहुँचाती है और लेखक को छोटा करती है ; कि यह प्रतिबद्धता एक साथ ही अपने प्रति और अपने से बाहर उन दूसरे व्यक्तियो के प्रति होती है जिन्हें जनसमाज कहा जाता है और जिन्हे 'समाज' नामक एस्टेब्लिशमेन्ट से अलग करके देखना जरूरी है ; कि यह प्रतिबद्धता सामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों से अधिक गंभीर अर्थ में उन सबके सार तत्त्व कुछ श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के प्रति होती है, क्योंकि सर्जनात्मक साहित्य प्रथमतः संवेदना और अंततः मूल्यों के स्तर पर काम करता है।"

उपरोक्त बिन्दुओं के विवेचन से परिलक्षित होता है कि अमृतराय की साहित्य-दृष्टि और साहित्य-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थता ही है। कुल मिलाकर यह कहना तर्कसंगत होगा कि एक विचारक और चिन्तक के रूप मे अमृतराय का जो रूप उभरता है, उसमें उनकी प्रगतिशील आस्था ही सर्वाधिक मुखर है। मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और रचना दृष्टि के प्रति ईमानदार रहते हुए अमृतराय ने कहीं भी जड़ दृष्टिकोण का प्रतिपादन नही किया। इसके विपरीत उन्होंने अपनी मूलभूत आस्था को प्रामाणिक बनाये रखते हुए अधिकाधिक व्यापक और उदार अभिव्यक्ति दी है। उनकी रचना-दृष्टि वादग्रस्त साहित्य-चिन्तन न होकर लोक मंगलवादी एक ऐसा साहित्य चिन्तन है, जो उस विचार-दृष्टि की गरिमा को नये-नये आयाम देता है, जिसके प्रति वे प्रतिभूत हैं।

अमृतराय[2] के विचार से लेखन आत्म-अभिव्यक्ति है जैसा कि उन्होंने लिखा है, "लेखक

---

1 अमृत राय, आधुनिक भावबोध की संज्ञा, हंस प्रकाशन, पृ -60

2 वही, पृ.-34

अपने भीतर की तड़प को (जो कुछ भी हो सकती है जिसकी गणना संभव नहीं- कोई क्षण जो उसने जिया है, कोई बात जो वह कहना चाहता है, कोई सत्य जिसकी उसे प्रतीति हुई है, कोई अन्याय जिसका वह प्रतिकार करना चाहता है, कोई सौन्दर्य, जिसकी एक झलक उसे मिली है) अभिव्यक्ति देना चाहता है और उसी अभिव्यक्ति देने की क्रिया मे, उसके ही माध्यम से, अपनी उस तड़प को और भी गहरे उतरकर समझना चाहता है, पहचानना चाहता है। इस अर्थ मे यह अभिव्यक्ति दूसरे के लिए और दूसरे के सम्मुख भी होती है। अभिव्यक्ति का यह सुख ही रचना का सुख है।''

सामाजिकता : अगर आत्म-अभिव्यक्ति ही साहित्य सर्जना का सबसे बड़ा सुख है, तो अब सवाल पैदा होता है कि सामाजिकता के साथ उसके संबंध की क्या संगति बनती है? इसके संबंध में अमृतराय[1] कहते हैं, ''हमारे लिए तो साहित्यकार के ऐसे 'आत्म' की कल्पना करना ही कठिन है जिसमें दूसरे किसी का कोई योग न हो और जिसे दूसरे किसी से कोई संबंध न हो। ...सच यह है कि साहित्य का सृजन बच्चे पैदा करने से कुछ ज्यादा ही कठिन और टेढ़ा काम है। बच्चा तो सभी बालिग मर्द-औरत सोते-जागते पैदा कर लेते हैं (खासकर हिन्दुस्तानी! त्राहि-त्राहि मची है। सरकार करोड़ों रुपया हर साल सिर्फ बच्चों की पैदावार रोकने पर खर्च कर रही है!) जबकि साहित्य पैदा करना सबके बस का रोग नहीं। क्यों? एक तो इसलिए कि साहित्य पैदा करना दो के मिलकर करने का नहीं, अकेले आदमी और अकेली औरत के करने का काम है। दूसरे इसलिए कि बच्चा तो असल में प्रकृति पैदा करती है, स्त्री-पुरूष तो केवल निमित्त या उपकरण होते हैं जबकि साहित्य (यानी कि जिसे यह गरिमापूर्ण संज्ञा दी जा सके) आदमी की अपनी सृष्टि होता है जिसके लिए वह प्रकृति को अपना उपकरण बनाता है।''

अमृतराय व्यक्ति स्वातंत्र्य के हामी हैं, व्यक्तिवाद के नहीं। उनके विचार से कला में 'अंकित चित्र का महत्व केवल कलाकार के लिए नहीं वरन् सामान्य रूप से सभी मनुष्यों के लिए होना चाहिए'।[2]

1. वही, पृ.–35
2. अमृत राय, नयी समीक्षा, पृ –25

समाज से जुड़ा हुआ साहित्यकार सामाजिक नैतिकता की प्रकृति को भी पहचानने लगता है और उसके उचित संशोधन की आकांक्षा रखता है। अमृत राय ने नैतिकता के प्रश्न को मूलतः समाजवादी चिन्ताधारा के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया है। उनकी धारणा है कि सामाजिक स्तर पर नैतिक उत्थान प्रवचनो के बल पर नही हो सकता, तदर्थ लेखक को, पहले देश मे समाजवादी व्यवस्था की आधारशिला रखनी होगी, तदुपरांत नैतिक उत्थान स्वतः ही होता चला जाएगा।

कला धारणा : एक सुदृढ़ वैचारिक आधार और मार्क्सवादी दर्शन की पृष्ठभूमि होने पर भी अमृत राय की मुख्य लड़ाई रचना के पक्ष में लड़ी गई। अमृत राय के लिए कला भाववाही न होकर चेतनापरक है। चेतना एक विचार है जो वस्तु–सापेक्ष, परिस्थिति-सापेक्ष और समाज–सापेक्ष होता है।[1] परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, अतः उसी के अनुरूप कला का रूप भी बदलता रहता है। वस्तुतः परिस्थितियाँ ही ऐसा मूल्य हैं जो 'मनुष्य की चेतना को गढ़ती है।'[2] प्रश्न उठता है कि कला के इस परिवर्तनशील रूप में क्या कोई ऐसा अनुतत्व है जो हजारों साल बाद भी कला को जीवित रखता है? अमृतराय की समीक्षा इसका सांकेतिक उत्तर देती है। आत्माभिव्यक्ति के लिए लिखना[3] ही कला का वैशिष्ट्य है। परिपार्श्व कितना ही बदलता रहे लेकिन लेखक का अपना व्यक्तित्व उसमें जगमग होता रहता है और इस अर्थ में कला भी नहीं मरती वरन् निरन्तर परम्परा की एक कड़ी बनी रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियो में कला का सृजन एक महत्त्वपूर्ण दाय है। कोरी कल्पना से यह कार्य सिद्ध नही हो सकता। तदर्थ कलाकार में दिल और दिमाग के संयोग से साहस, दृढ़ता और धैर्य की अपेक्षा है। 'साहस, दृढ़ता और धैर्य के बिना कोई महान सृष्टि कभी संभव नहीं हुई।'[4] संघर्षरत कलाकार घबराता नहीं बल्कि वह जीवन को जीवन

1. वही पृ.–2
2. वही
3. अमृत राय, सह चिन्तन, हंस प्रकाशन, पृ.–48
4. वही, पृ –24

और जीवन से हमारा अभिप्राय काल्पनिक, स्वप्निल जीवन से नहीं प्रत्युत जीवन संघर्ष से है, जीवन संघर्ष से पैदा मानसिक वैचारिक और भावात्मक उथल-पुथल से है।" आशय यह है कि यथार्थवाद से तात्पर्य जीवन का हू-ब-हू चित्रांकन नही है, तदर्थ साहित्यकार को संवेद्य होकर जीवन मे उतरना पड़ता है; समग्र जीवन के अवरोधक तत्वो के विरोध मे संघर्ष करना पड़ता है और परिवर्तन के लिए एक ठोस दिशा देनी पड़ती है। अन्यत्र भी उन्होने अपने इसी अभिमत को दुहराया है, "साहित्य मे जीवन की तथ्यपरक अनुकृति प्रस्तुत करना यथार्थवाद का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है सत्य की खोज और उस खोज को अभिव्यक्ति प्रदान करना।'[1] इस कथन से स्पष्ट है कि यथार्थ के साथ उन्हें आदर्श भी अभीप्सित है।

रूपबंध : अमृतराय रचनाकार भी हैं और आलोचक भी। रचनाकार के नाते वे रचना के स्तर पर जो कुछ भोगते हैं, आलोचक के नाते उसका शब्दांकन भी करते चलते हैं। वे अतिवादी बनकर न 'वस्तु' की अवहेलना करना चाहते हैं और न ही 'रूप' की। बदलते हुए जीवन के साथ नया 'रूप' उन्हें ग्राह्य है। उनका विश्वास है कि 'जहाँ कला मे प्रयोग नहीं होते वहाँ कला मर जाती है।'[2] लेकिन प्रयोग के लिये प्रयोग उन्हें ग्राह्य नहीं है। उनके विचार से 'जो साहित्य अर्थ को निर्वासित करके केवल 'वाक्' को ही साहित्य मानता है, उसके मूल में ही कोई भ्रांति है।[3] ऐसी शुद्ध कलात्मक प्रयोगशीलता अंततः वंध्या सिद्ध होती है।[4]

साम्प्रतिक रूप से कहा जा सकता है कि अमृतराय की दृष्टि का फोकस मार्क्सवादी चिन्तन है। उन्होंने हर कला-धारणा को और जीवन के प्रत्येक बिन्दु को मार्क्सीय दर्शन के सांचे में ढालकर देखा है। लक्ष्मण दत्त गौतम[5] के शब्दों में, "परिस्थिति के अनुरूप

---

1. अमृत राय, सह चिन्तन, हंस प्रकाशन, पृ.-77
2. वही पृ.-71
3 वही, पृ.-70
4. वही, पृ -72
5. लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृ -348

साम्यवादी चिन्तन के औचित्य एवं भाषा संवेदना की सहज अभिव्यक्ति के बल पर ही अमृत प्रगतिशील लेखक ठहरते हैं, अन्यथा वे प्रगतिवादी ही रह जाते।''

अब देखना यह है कि कहानी के स्तर पर अथवा कला के स्तर पर उनका प्रगतिशील चिन्तन किस सीमा तक उभरा है?

(क) अमृत राय की कहानियाँ :

अमृतराय ने कहानी लिखना सन् 1935 ई0 मे शुरू कर दिया था लेकिन व्यवस्थित रूप से इनका कहानी लेखन सन् 1937 ई0 से शुरू हुआ।[1] यह निर्विवाद है कि आरम्भ से ही अमृतराय की कहानियाँ किसी एक व्यक्ति और एक क्षण पर आधारित नहीं रहीं। उनका वर्ण्य समाज का बेसहारा वर्ग है जो एक क्षण से नही बल्कि भूत, वर्तमान, भविष्य के दीर्घ काल-अंश से जुड़ा हुआ है।

अमृतराय की कहानियों मे प्रगतिशीलता वस्तु बनकर नहीं, दृष्टि बनकर आती है। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ प्रगतिवादी खेमे की दीवारो में कैद नहीं हैं, वरन् खुली हुई हैं और जीवन के विविध अनुभवों और स्थितियों से गुजरती हैं। परिणामतः उनकी कहानियों में कथ्य का वैविध्य है। सच तो यह है कि उन्होंने निम्न वर्ग के भी चित्र दिए हैं, परंतु उनकी कहानियों का मुख्य क्षेत्र मध्यवर्ग ही है, मध्य वर्ग में भी स्त्रियों की जिन्दगी की पहचान प्रमुखता और गहराई से की गयी है।

कला-धारणा को मुखरित करने वाले अमृतराय की एक कहानी है, 'कलाकार'। इसका आधार 'फैन्टेसी' है तथा परिवेष्टन विदेशी। शिल्प भी कथ्य का अंतरंग नहीं बन पाया है। 'ऐसे बेढंगे समय में वह इस तरह क्यों भटक रहे हैं, इसे यदि हम बतलाना चाहे तो बहुत समय लगेगा'[2] जैसे वाक्य दृष्टि और प्रभाव को विरस कर देते हैं। कहानी में एक कलाकार है—'केटरपिलर'। वह कलावादी है। उसकी धारणा है कि 'कलाकार

---

1 जीवन के पहलू (भूमिका बाध रहा हूँ), अमृत राय, पृ.–1

2 जीवन के पहलू (कलाकार), अमृत राय, पृ.–176

को खाने की चिन्ता नहीं होती'।[1] वह संसार मे किसी के निमित्त नहीं बजाता। वह केवल अपने लिए बजाता है और इससे किसी को चोट पहुँचे तो इसमे कलाकार का क्या दोष?[2] वह पतझड़ के समय बर्फानी घाटियो मे, केवल आत्मतोष के लिए, निर्जल मालकोस बजाता है। तीस मास बाद जब उसका मालकोस खत्म होता है तो 'उसे एक बार सोचने का मौका मिला कि उसे भूख लगी है। वह भोजन के निमित्त चीटियो की रानी के पास जाता है। राजमहिषी बेलाग उत्तर देती है, 'आपने मेरे लिए तो बजाया नहीं, तो मैं आपको रोटी क्यों दूँ?[3] भूख से तिलमिलाए कलाकार के पास एक ही रक्षा कवच बचा है- 'पर इससे क्या? आपका मनोरंजन तो हुआ ही है।'[4] राजमहिषी उत्तर देती है- 'अपने मनोरंजन के लिए तो हम ही पानी उबालते वक्त, नहाते वक्त, बच्चे को दूध पिलाते वक्त गा लेती हैं। तुम्हारी जरूरत क्या है?'[5] कलाकार को खाना नहीं मिलता। वह अपना निकम्मा शरीर लेकर वहीं ढेर हो जाता है। इस प्रकार के संदर्भ मे अमृतराय के विचार दायित्त्वपूर्ण हैं।

जिस समाज मे कलाकार जीता है उसके प्रति उसका गंभीर दाय है। मनोरंजन ही कला का धर्म नहीं है। जो कलावादी धारणाओं को लेकर चलता है वह समाज के लिए बोझ है। उसका मर जाना ही अच्छा है। उसको भोजन देकर जीवित रखना कलावाद को शह देना है।

कला के अंतर्गत प्रचार शब्द मूलतः राजनीति के पर्याय-रूप में प्रयुक्त होता है। आज तक का श्रेष्ठ भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य इस तथ्य की गवाही है कि साहित्य राजनीति का आभारी है किन्तु साहित्य का मेरूदंड ही राजनीति हो, ऐसी बात नहीं है। ये दोनों विषय अन्योन्याश्रित हैं। फिर भी साहित्य के स्वतंत्र अस्तित्त्व और भव्यतर जगत् का यही इदमित्थम नहीं है।[6] सच्चाई तो यह है कि राजनीति के हाथों में पड़कर साहित्य

1. वही
2. वही पृ.–179
3. वही, पृ.–184
4. वही, पृ.–185
5. वही, पृ.–185
6 लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृ.–350

प्रचार का साधन मात्र बन जाता है। इस परिप्रेक्ष्य मे अमृतराय के बारे मे टिप्पणी करते हुए लक्ष्मणदत्त गौतम[1] ने लिखा है, "अमृत सिद्धांत रूप से तो मार्क्सवादी चिंतन अथवा समाजवाद के प्रवक्ता हैं ही, लेकिन उन्होने कहानी-साहित्य मे आरम्भ के 15-20 वर्षो मे राजनीति को जिस रूप मे ग्रहण किया है वह कोरा प्रचार का रूप बनकर रह गया है। कलात्मक रूप उनमे दबकर रह गया है।" 'योरप की विजयी जनता के नाम', 'एटमी सुलतान ट्रूमैन के नाम', 'कोरिया का नया भूगोल', 'आजादी की रेल उर्फ वार्निश के पीपे', 'तेलंगाना के वीरों से', 'जिन्दगी का खिराज', 'बाल-बच्चेदार कबूतर', 'अभियोग', दुर्भिक्ष मंत्री कथाकार मुंशी के नाम', 'तिरंगे कफन', 'गोडसे के नाम खुला पत्र' आदि कहानियाँ इस संदर्भ में पठनीय हैं। वस्तुतः इन कहानियों मे आवेगमय उफनता हुआ जोश है। जब यह जोश समाजवाद के समर्थन में उफनता है तो स्तालिन उसके पिता[2] और बाबा[3] बन जाते हैं तथा माओ बड़े भाई[4]। इतना ही नहीं, जब अमृत राय पूँजीवाद के विरोध में शब्द उचरते हैं तो गाली-गलोच पर उतर आते हैं। पूँजीवाद के समर्थक उन्हें 'पालतू कुत्ते, 'मगरमच्छ', 'हिजड़े', 'टुकड़ेखोर कुत्ते', भाड़े के टट्टू' तथा लोगों के खून और गोश्त से डालर बटोरने वाले लगते हैं। लेकिन लक्ष्मणदत्त गौतम[5] प्रश्न उठाते हैं, "वे इनसे भी बुरे हो सकते हैं लेकिन कला मे उनका ऐसा 'मुखर प्रयोग' क्या शोभा देता है?"

'कोरिया का नया भूगोल' में अमृतराय[6] स्थान-स्थान पर लिखते हैं, 'मैं कहाँ से कहाँ बहक गया...' आदि, आदि। कहानी में यह बहकना किसी भी स्तर पर क्यों न हो लेकिन कला के स्तर पर लेखक की यह बहक अवश्य स्वीकृत है और संभवतः अमृतराय को अपनी इस गलती का अहसास भी हुआ है। यही कारण है कि 'लाल धरती'

---

1. वही, पृ.–351
2. लाल धरती (एटमी सुलतान ट्रूमैन के नाम), अमृत राय, पृ –8
3. वही (कोरिया का भूगोल), पृ.–20
4. वही (एटमी सुलतान ट्रूमैन के नाम), अमृत राय, पृ.–8
5. लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृ.–351
6. अमृत राय, लाल धरती (कोरिया का नया भूगोल), पृ –8

कहानी संग्रह के पश्चात् की कहानियों में समाजवादी समर्थन तथा पूँजीवाद के विरोध के बावजूद भी एक व्यवस्था है, एक संतुलन है जो या तो प्रचार की गंध को मुखर होने नही देता और यदि मुखर होता भी है तो कलात्मक दृष्टि से वह रूप इतना सहज, स्वीकृत और प्रतीकात्मक है कि पाठक को नीरस नहीं लगता वस्तुतः ऐसी कहानियों मे प्रचार कला की आंतरिक अन्विति बन गया है जो स्थिति के भीतर से उभड़ता है और स्वाभाविक लगता है। 'भोर से पहले', 'कटघरे' तथा 'चित्रफलक' की अधिकांश कहानियाँ उपरोक्त कथन को पुष्ट करती हैं।

सामाजिक चेतना के लिहाज से देखा जाय तो, अमृतराय के प्रथम कहानी संग्रह 'जीवन के पहलू' मे एक कहानी है—'पति-पत्नी'। इस कहानी के माध्यम से अमृतराय ने संकेत किया है कि वैषम्य ही इस समाज का नियम है और इसकी शुरुआत पति-पत्नी से ही होती है। समाज के इस लघुत्तम संस्करण को जोड़े रखने वाले बच्चे हैं। वे गृहस्थ का 'सेतुबंध' हैं जो माँ-बाप के बीच गहराने वाली खाइयों को पाटते चलते हैं। लेकिन जब नारी-पुरूष में से किसी एक विशेष के अधिकारों का मात्रा से अधिक हनन होने लगता है तो वैषम्य बलवान हो उठता है।

नारी की ज़िन्दगी 'सीढ़ियों का एक जीना है जिस पर वह चढ़ती है और उतरती है, उतरती है और चढ़ती है, चढ़ती है और उतरती है और... पानी देती है ज़िन्दगी के उस झंखड़ बिरवे को जिसमें न फल लगता है न, फूल'।[1] 'सती का शाप' कहानी की रमा की तरह 'वह दूसरों की चबाई हुई जिन्दगी[2] है। आज की व्यवस्था में उसका जन्म लेना दुखद और मर जाना सुखद है।[3] आदमी की नजर मे उसकी स्थिति घर के गधे-सी है जो डंडे से पिटे बिना रास्ते पर ही नहीं आ सकती[4] अथवा वे भोग की

1. जीवन के पहलू (झंखड़ बिरवा), अमृत राय, पृ.–40–41
2. वही, पृ –64
3. वही (मसान घाट), पृ.–92
4. भोर के पहले (सत्यमेव जयते), अमृत राय, पृ.–47–48

परनालियाँ हैं[1] जिनमें जो चाहे, जब चाहे उनकी मजबूरियो का फायदा उठाकर 'एक कामयाब आदमी की तस्वीर' के हरेकृष्ण की भाँति अपना पानी बहा सकता है।

अमृतराय की दृष्टि मे नारी की इस जघन्य स्थिति का मूल कारण सामंतवाद और पूँजीवाद द्वारा उस पर थोपी हुई वैवाहिक रूढियाँ हैं। 'सती का शाप', 'आह्वान', 'अंधकार के खम्भे', 'समय', 'एक सांवली लड़की', 'एक नीली तस्वीर' तथा 'मंगलाचरण' कहानियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। 'आह्वान' तथा 'एक साँवली लड़की' कहानियों को छोडकर शेष कहानियों में वैवाहिक कुरीतियों का यथार्थांकन है।

'आह्वान' और 'एक सांवली लड़की' में विवाह की सामंती पद्धति के विरूद्ध विद्रोह की एक तस्वीर है। यह विद्रोह भावावेशी नहीं अपितु यथार्थ है क्योंकि लेखक यह मानकर चलता है कि संस्कार बड़े प्रबल होते हैं और इन्हे बदलने में समय लगता है।[2] दो युग के संस्कारों का यह संघर्ष पीढ़ियों से चल रहा है, अतः परिस्थितियों के दबाव से नारी में यदि विद्रोह पनप भी रहा है तो वह स्वाभाविक लगता है।

सच पूछा जाय तो अमृतराय ने नारी चेतना के लिए अपनी कहानियों में बड़े-बड़े मनसूबे नही बाँधे हैं। उनकी मान्यता है कि वैवाहिक रूढ़ियाँ और उनको प्रश्रय देने वाली लज्जा और ममता ही ऐसी अर्गला हैं जो नारी के प्रगति-चरण को रोके हुए हैं। पहले ये टूटनी चाहिएँ। बाद में प्रगति के रास्ते पर चलती हुई नारी अस्तित्त्व-रक्षा के निदान तो स्वयं ढूँढ़ लेगी।

नैतिकता का प्रश्न सामाजिक संदर्भ से जुड़ा हुआ है। जब सामाजिक प्रगति की बात कही जाती है तो नैतिक प्रगति स्वतः उसके साथ जुड़ जाती है। अमृतराय ने सामाजिक संदर्भों के बीच-बीच में सामाजिक नैतिकता की प्रकृति पर भी विचार किया है।

अमृतराय की धारणा है कि नैतिक मान्यताएँ परिस्थिति-सापेक्ष हैं। परिस्थिति बदलती

---

1. वही, पृ.–120
2. कस्बे का एक दिन (आह्वान), अमृत राय, पृ.–14

है तो नैतिक कोण भी बदलेगे। यदि ऐसा नही हो पाता तो नैतिक धारणाओ मे निश्चय ही विकृति आएगी। विशेषकर आर्थिक मजबूरियो मे नैतिकता का ह्रास अवश्यंभावी है क्योंकि ऐसा होना मजबूरी का तकाजा है। सामाजिक-आर्थिक 'मरूस्थल से संतप्त, चोखे जैसा आदमी सस्ते शराबघरो मे अपने आपको न बहलाए तो भला क्या करे?[1] 'भोर से पहले' की 'पुतुल' आर्थिक मजबूरियो की ही शिकार है। सन् 1943 ई0 के बड़े अकाल के बाद उसके माँ-बाप, दोनों ही नहीं रहे थे और रिश्ते के इन मामा ने आगे जाकर उसकी सरपरस्ती अख्तियार की थी। तभी से यह दलदल शुरू हुआ था और ढाई साल में लगभग गहरा ही होता गया था।[2] सामाजिक नैतिकता का कलंक वेश्या जीवन आवश्यकताओं के अतिरिक्त भला और किसका परिणाम हो सकता है? यह सब मजबूरियों का परिणाम ही तो है कि 'ग़ाजे और क़ाजल और भूख और खून मे लिपटी हुई, खरीद-फरोख्त की जाने वाली जवानियों से, जो किसी धर्मशाला के रजिस्टर की तरह सबके लिए खुली रहती हैं—जो भी चाहे उठाकर स्याही से उस पर अपना नाम दर्ज कर दे'।[3] अतः नैतिक ह्रास जान-बूझकर नहीं होता। उसके पीछे मजबूरियों का दबाव होता है। अमृत राय ने इनका यथार्थ चित्रण तो किया ही है, प्रसंगानुकूल परिवर्तन की आकांक्षा भी की है। 'एक साँवली लड़की' में अमृत राय ने लज्जा और ममता के किवाड़ों को खोला है तो 'कटघरे' और 'एक साँवली लड़की' में परंपरा-गलित प्रेम-मान्यताओं को भी धार पर धर दिया है। वे एक ओर परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन के आकांक्षी हैं[4] तो दूसरी तरफ पुतुल के शब्दों में सजग पाठक से कारुणिक निवेदन करते हैं कि 'आप मेरी हाशी को बचा लीजिए। मेरी हाशी को बचा लीजिए इन्दु बाबू, आप ही उसे बचा सकते हैं। वह अभी बच्ची है, अभी उस पर पाप की काली छाया नहीं पड़ी। उसे इस नरक-कुंड से निकाल लीजिए इन्दु बाबू'।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात इन्दु बाबू

1. जीवन के पहलू, अमृत राय, पृ.–6
2 भोर के पहले, अमृत राय, पृ.–21
3 भोर के पहले (इति जम्बूद्वीपे भारतखंडे), अमृत राय, पृ. 90
4. चित्रफलक (एक सांवली लड़की), अमृत राय, पृ. 43
5. भोर के पहले, अमृत राय, पृ –25

से नहीं, हम सबसे कही जा रही है कि पिछली सतति तो मजबूरियो का शिकार हो गई, अगली को, जो अभी बच्ची है उबारना आपका काम है। उबारने का समाजवादी हल भी लेखक के पास है : 'सबको अच्छा खाने को मिले और मन-माफिक कपड़ा पहनने को मिले तो सब ऐसे ही पारसा हो सकते हैं।[1]' केवल त्याग, निर्भयता और आत्मविश्वास के साथ पीड़ित जनता को संघर्ष करने की जरूरत है।

वह आदर्शवाद क्या जिसमें तथ्य का तीखापन आकार एकरस न हो जाय। 'तथ्य' यहाँ **यथार्थ-बोध** का पर्याय बनकर आया है। यह उक्ति अमृतराय की प्रारम्भिक कहानी 'प्रश्न' से ली गई है, केवल इसलिए कि यह कहने में कोई संकोच न हो कि आरम्भ से ही आदर्श के साथ-साथ यथार्थ और वह भी तीखा (व्यंग्यपूर्ण) यथार्थ अमृतराय का वर्ण्य विषय रहा है। विकासक्रम की दृष्टि से अमृत राय की कहानियों में यथार्थ-दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर होती गई है। 'चित्रफलक' कहानी सूक्ष्मतर यथार्थ का सर्वोत्तम उदाहरण है।

अनुभूति के स्तर पर जहाँ अमृत राय की रेखाएँ सूक्ष्मतर होती गई हैं वहाँ अभिव्यक्ति के स्तर पर भी यथार्थ-बोध के व्यापक आयाम कहानियों में देखने को मिलते हैं। अमृत राय की रचना-भूमि दूसरे महायुद्ध से आज तक की है। इस दीर्घ काल-अंश में अमृत राय ने समाज को जैसा देखा वैसा ही चित्रित किया; उसकी जड़ता पर व्यंग्य भी किया और अंततः कहीं स्थूल तो कहीं सूक्ष्म; कहीं नगाड़े की तरह कर्णपटु, तो कहीं शहनाई की तरह अन्य वाद्य यंत्रों के संगीत में घुली-मिली किन्तु विशिष्ट संगीत-दृष्टि भी दी। आशय यह है कि अमृत राय के यथार्थ-बोध की अभिव्यक्ति के स्तर पर तीन मुख्य विशेषताएँ हैं–व्यापक आयाम, तीक्ष्ण व्यंग्य तथा आदर्शपरक दृष्टि।[2]

बहुत बड़े संघर्ष, त्याग और बलिदान के बाद देश आजाद हुआ। सोचा था आजाद देश मे जनता बड़ी सुखी होगी, लेकिन 'अहिंसक क्रांति' से हमारे देश में जो आजादी

---

1 वही, पृ.–23

2 लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृ.–357

आई है... उसमे भी तो कही कुछ नही बदला है, सिर्फ साइनबोर्ड बदला है, 'गुलामी' को सुनहरे रंग के वार्निश से पेट करके 'आजादी' कर दिया गया है लेकिन पुरानी लिखावट अभी भी दबी नही है।[1] शोषण का जैसा रूप पहले था अब उससे भी बदतर हो गया है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने परस्पर आत्मीयता को भंग कर दिया है। अमृत राय को हैरानी है कि जीवन मे इतनी घोर विषमता, इतना उच्छृंखल यौवन, इतनी छिपी उदासी लेकर भी मनुष्य जीवित कैसे है।[2] भयंकर आर्थिक विषमता ने संबंधो में अलगाव की स्थिति पैदा कर दी है, औपचारिकता मात्र शेष रह गई है। किसी पर जोखिम पड़ जाय तो कोई सामने आने को तैयार नही। हाँ, दावत खानी हो तो ठीक है, एक को बुलाओ दस दौड़ेंगे।[3] इस प्रकार अमृत राय के विचार से तो आजादी का दूसरा नाम ही यंत्रणाओ की नई शुरूआत है जिसमे केवल उन्हीं को आजादी मिली है जिन्होने अवसर का लाभ उठाकर तिरंगे की आड़ में शोषण की जड़ें जमा ली हैं।[4]

शहरों मे मनुष्य का एक ऐसा वर्ग रहता है, जिसे मध्यवर्ग कहते हैं। उसकी स्थिति भी बड़ी विषम है। 'शाम की थकन', 'कठघरे', 'सावनी समा', 'डाकमुंशी की एक शाम' जैसी कहानियाँ इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में आज की विषमता में मध्यवर्ग का यथार्थ उमड़कर सामने आ गया है—"वह थका हुआ सोता है और थका हुआ उठता है, थका हुआ दाढ़ी बनाता है और थका हुआ खाना खाता है, थका हुआ दफ्तर जाता है और थका हुआ बड़े बाबू की डांट खाता है (और थका हुआ शाम को घर लौटता है) जब वह मुर्दे की तरह बिस्तर पर ढेर हो जाता है, तब वह किसी को अपने पास नहीं देखना चाहता, किसी को नहीं, एक शख्स को नहीं।"[5]

---

1. लाल धरती (आजादी की रेल उर्फ वार्निश के पीपे), अमृत राय, पृ.–36
2. जीवन के पहलू (असलियत की रोशनी में), अमृत राय, पृ.–91
3. चित्रफलक (काली मोटर), अमृत राय, पृ.–103
4. इतिहास (यंत्रणाओं की घड़ी), अमृत राय, पृ.–102
5 भोर के पहले, (शाम की थकन), अमृत राय, पृ.–58–59

कुल मिलाकर यह कहना समीचीन होगा कि भारत मे बेकारी नगी होकर नाच रही है[1], परिश्रम और चरित्र का अवमूल्यन हो गया है[2] तथा योग्यता का आसन भाई-भतीजावाद ने हथिया लिया है।[3] वस्तुतः इसका सारा श्रेय प्रशासनिक अराजकता को है। 'सत्यमेव जयते' प्रशासन की उस मशीनरी (पुलिस) का व्यंग्यपूर्ण यथार्थांकन करती है जो शांति, सुरक्षा और न्याय का जिम्मेदार है। वकीलो का न्याय देखना हो तो 'एक कामयाब आदमी की तस्वीर' पढ़ी जा सकती है। 'हारे-थके' में स्थिति और भी साफ हो गई है। आज की सारी व्यवस्था ही बेईमानी, घूसखोरी, गलाज़त, भ्रष्टाचार तथा अमानवीयता के शिकंजे में फँसी हुई है। ईमानदार और परिश्रमी आदमी का इस व्यवस्था मे बसर ही नहीं है। ईमानदार भूखा है। ऐसी स्थिति में अमृत राय समाजवादी व्यवस्था को लाने के अलावा कुछ सोच ही नही सकते।

अमृत राय की मान्यता है कि ईश्वर अथवा धर्म इस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं ला सकते क्योंकि बुढ़ापे के कारण भगवान् की आँखें कमजोर हो गई हैं[4] और धर्म 'भाँग' हो गया है[5] जिसने मनुष्य की गति अवरूद्ध कर दी है। धर्म भूमि बनारस पर कैसा तीक्ष्ण कटाक्ष है—

"वे सब
जो इस नगर में प्रविष्ट हों
जीवन गतिशील होता है, इस प्रवंचना से
अपने आपको मुक्त कर लें
शहर में जगह-जगह तुमको लिखा मिलेगा-
गति की सीमा पाँच मील प्रति घंटा"[6]

---

1. वही (सपने और सपने), पृ. 67
2. कठघरे (किस्सा अलिफ लैला), पृ. 43
3. वही (गोबर गनेश) पृ. 50
4. कठघरे (गोबर गनेश), पृ.58
5. भोर के पहले, (इति जम्बुद्वीपे भारतखण्डे), अमृत राय, पृ.–79
6. वही, पृ –81

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि अमृत राय का यथार्थबोध प्रगतिशील है। लक्ष्मण दत्त गौतम[1] के शब्दों मे, "अमृत राय ने यथार्थ के सतही धरातल से आंतरिक भूमि मे प्रवेश किया है और हास्य-मिश्रित व्यंग्यो द्वारा भावक की मानसिक जड़ता को कुरेदकर उन्हे समाजवादी दृष्टि-दान दिया है। व्यंग्य अमृत राय का प्राण है जो उसकी कहानियो मे कसते हैं। वे तब तक रहेंगे जब तक व्यवस्था नहीं बदल जाती और जन-जीवन सुख-सौविध्य की सांस नही लेता।"

पूँजीवाद का विरोध अमृत राय की कहानियों की मूल भित्ति है। पूँजीवाद को अमृत राय शेषण का पर्याय समझते हैं। शोषण कहीं भी हो रहा हो; जीवन की किसी भी दिशा में हो रहा हो; किसी भी दशा में हो रहा हो; किसी भी रूप में हो रहा हो अमृत राय उसका दृढ़ विरोध करने को प्रतिबद्ध हैं। चाहे घर की चहारदीवारी में घुट-घुट के मरनेवाली नारी हो अथवा खेतों में तपने वाला किसान; दफ्तरों में कलम घिसनेवाला बाबू हो या स्कूलों में सिर फोड़ने वाला अध्यापक, मिलों में काम करने वाला सर्वहारा मज़दूर वर्ग हो या ले-देकर पेटभर जुटाने वाला निम्न वर्ग-सब पर अमृत राय की नजर है और आज की व्यवस्था में वे सबको एक-दूसरे का 'रखैल'[2] समझते हैं। वे यह जानते हुए भी कि इस व्यवस्था का विरोध अग्निपरीक्षा है; जलते अंगारों पर पाँव रखना है-'अमलतास' के निर्मल की तरह इसका डटकर विरोध करने को प्रतिबद्ध हैं। उन्होने जान लिया है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम का कोई मूल्य नहीं है-न सामाजिक स्तर पर इसका कोई सम्मान है और न ही आर्थिक धरातल पर कोई लाभ। उसका शोषण हो रहा है 'इतिहास' के सुमेर की तरह।

पूँजीवादी व्यवस्था में मानवीय संवेदना का अभाव है। डाक्टर, जिसका उद्देश्य ही रोगी का रोग दूर करना है, इस व्यवस्था में गरीब और अमीर दोनों को अर्थ की एक

---

4. लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृ.–360
1. हम रखैल (जीवन के पहलू), अमृत राय, पृ. 5

ही तुला पर तोलता है।[1] यही हाल वकील का है। इस व्यवस्था मे उसे न्याय से कुछ लेना देना नही है। 'एक कामयाब आदमी की तस्वीर' की तरह वकील लोग पैसा खींचने मे लगे हुए हैं और न्याय से उनका कोई ताल्लुक नहीं। 'उन्हे तो गरज मुकदमे से है, मुकदमो के फैसले होने से थोडे ही'।[2]

इस प्रकार अमृत राय शोषण की प्रकृति का उद्‌घाटन करते चलते हैं और साथ ही उसका विरोध भी। अमृत राय का मत है कि परिवर्तन अनिवार्य है क्योकि 'फीका कागज' के रघुनंदन के शब्दो में, 'यह सारी इमारत ही गलत है और उसके ढहने की कामना करते हुए उनसे क्षमा चाहता हूँ'।[3]

अमृत राय अपनी कहानियों मे भूख को सर्वाधिक वरीयता देते हैं। उनका विचार है कि 'भूख को चाहे खुशहाल मोटे दिलों के दार्शनिक कितनी ही छोटी चीज़ क्यो न समझे, लेकिन वह इतनी छोटी चीज़ किसी तरह भी नहीं है कि सिर्फ मुँह बिचकाकर और कंधे हिलाकर उसका सम्मान किया जा सके'।[4] सच्चाई तो यह है कि भूख एक गुप्त रोग है जिससे पूरा देश इस वक्त पीड़ित है। इस गुप्त रोग का उपचार रोने-धोने या हाथ फैलाने से नहीं होगा। इसलिए अमृत राय ने अपनी कहानियों में बौद्धिकता का आग्रह किया है। उनके विचार से 'जीवन में इसी एक ज्योति-शिखा की जरूरत होती है हमको। तुमको। रास्ते के आदमी को। सबको। पहले यह ज्योति चाहिए, मोती तो बाद को भी ढूँढ़े जा सकते हैं।'[5] बौद्धिक चेतना मानव-जाति में अस्तित्व रक्षा का बोध देती है।[6] अमृत राय की कहानियों मे जहाँ रूढ़ियों का विरोध और शाश्वत-मूल्यों पर अविश्वास व्यक्त किया गया है वह भी लेखक की बौद्धिक धारणा का ही परिणाम है।

---

1. इतिहास (जाँगर चोर), अमृत राय, पृ.–107
2. भोर के पहले, अमृत राय, पृ –107
3. जीवन के पहलू, अमृत राय, पृ –34
4. वही (मजहब का गेटअप), पृ –110
5 जीवन के पहलू, (मजहब का गेटअप) अमृत राय, पृ.–117
6. कठघरे, अमृत राय, पृ.–31

सामाजिक-सुख के लिए अमृत राय ने धर्म की अपेक्षा अर्थ को वरीयता दी है और आर्थिक समानता पर बल दिया है। समानता संघर्ष के बिना नही आ सकती क्योकि मात्र कह देने से आपको कोई समान अधिकार नही दे सकता।

तात्पर्य यह है कि समाजवादी स्वर अमृत राय की कहानियो मे मुखर है—प्रारंभ से अंत तक। लेकिन लक्ष्मण दत्त गौतम[1] के शब्दो मे, "उसकी अभिव्यक्ति में फरक है ; कहाँ प्रारंभ में वह स्थूल थी और कहाँ बढ़ते चरणो ने अनुभूति की सूक्ष्म रेखाएँ प्रदान कर दी हैं। ये रेखाएँ अमिट हैं और इन्हीं ने अमृत को प्रगतिशील कहानी-लेखक बना दिया है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि अमृत राय ने कोरे विचारक के रूप में ही अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत नहीं कीं, वरन् एक रचनाकार के रूप मे, अपनी रचनाओं में, उनके अनुरूप खरा उतरने का प्रयास भी किया है और यही उनके साहित्य-चिन्तन की सार्थकता है।

(ख) अमृत राय के उपन्यास :

अमृतराय के पिता प्रेमचंद पहले उपन्यासकार माने जाते हैं जिन्होंने बदली हुई युगचेतना को पहचानकर कथा साहित्य में पिछड़े वर्ग का चित्रण करना आरम्भ किया। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि में क्रांतिकारी परिवर्तन की मांग की, "हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के (सामंती और पूँजीपति) ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरो का पल्ला पकड़े रहना चाहता था। उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं की सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलों की ओर उठती

---

1. लक्ष्मण दत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृ.–336

थी, झोपडे और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हे वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था, कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मजाक उड़ाने के लिए।...उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नही थी कि जीवन संग्राम मे सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नम्रता मे भी सौन्दर्य का अस्तित्व सभव है, इसे कदाचित् यह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुंदर स्त्री मे है। उस बच्चो वाली गरीब रूप रहित स्त्री मे नहीं, जो बच्चे को मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होठों, कपोलो और भौंहों में निःसंदेह सुंदरता का वास है। उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियो पड़े हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालो मे सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ।''[1]

प्रगतिशील लेखक संघ के कलकत्ता में हुए द्वितीय अधिवेशन (सन् 1938 ई0) की अध्यक्षता करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय साहित्यिको को प्रतिक्रियावादी शक्तियो के विरूद्ध संगठित होकर सृजनात्मक रचनाओं द्वारा नवीन चेतना जागृत करने के लिए आमंत्रित किया-''भारतीय लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि वे भारतीय जीवन मे होने वाले परिवर्तनों और देश की प्रगति को नई स्पिरिट और वैज्ञानिक बुद्धि से संबद्ध करने का प्रयत्न करें। उन्हें साहित्यिक आलोचना की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिए क्योंकि वही प्रवृत्ति परिवार, धर्म, नर नारी, युद्ध और समाज संबंधी प्रतिक्रियावादी अतीतवादी प्रवृत्तियों से सफल लोहा लेगी। जितनी भी सांप्रदायिक विद्वेषी और मानव के शोषण की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं, भारतीय लेखक उनका प्रतिकार करेगे।

''हमारे संघ का उद्देश्य उन रूढ़िवादी वर्गो से साहित्य और कलाओं की रक्षा करना होगा, जिनके हाथ में वे अब तक घिनौनी बनती रही है। उन्हें हमें जनता के मन-प्राण के निकट लाना होगा। उन्हें इतना सजीव बनाना होगा कि वे जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त कर सके और हमें हमारे अभिप्रेत आदर्श तक पहुँचा सकें।''[2]

---

1. हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदना, मुकुन्द द्विवेदी, लोकभारती, सन् 1970 ई , पृ. 131
2. वही, पृ 132

इस प्रकार प्रगतिशील लेखक सघ के प्रथम और द्वितीय अधिवेशनो मे प्रेमचंद एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जैसे अध्यक्षों से प्रेरणा पाकर यह आन्दोलन सहज ही लोगो का ध्यान आकर्षित करने में सफल हुआ। लेकिन प्रेमचंद और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस व्यापक दृष्टि से प्रगतिशीलता की व्याख्या की वह कालान्तर मे अत्यधिक संकुचित हो गई। साहित्य मे वर्ग संघर्ष का चित्रण अनिवार्य मान लिया गया। साहित्यकारो की दृष्टि समग्र जीवन पर न जाकर सर्वहारा वर्ग तक ही सीमित हो गई। सर्वहारा वर्ग को साहित्य मे प्रतिष्ठित करके, पूँजीपति तथा उच्च मध्य वर्ग के शोषण को अभिव्यक्ति देना ही प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य हो गया। फलतः अनेक उपन्यासकारो की भाँति अमृत राय भी इस धारा से प्रभावित होकर इन्हीं सिद्धान्तों के अनुरूप साहित्य रचना करने लगे। अमृत राय ने अपनी इस विचारधारा का मुख्य आधार मध्य वर्ग को बनाया और अपने उपन्यासों में सामाजिक यथार्थवाद को अभिव्यक्ति दी। सामाजिक यथार्थवाद का मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद का नाश और वर्गहीन समाज की स्थापना मे योग देना है।[1]

अमृत राय सन् 1952 ई0 में **'बीज'** नामक उपन्यास लेकर हिन्दी की प्रगतिशील कथा–धारा से जुड़े। 'बीज' की कथावस्तु मध्यवर्ग के परिवारों से संबंधित है। सत्यवान, प्रफुल्ल बाबू, अमूल्य, वीरेन्द्र, महेन्द्र, राज, उषा, प्रमिला, पार्वती आदि सभी पात्र मध्य वर्ग की विभिन्न समस्याओ को उभारते हैं। 'बीज' उपन्यास में अमृत राय ने गार्हस्थ्य सम्बन्धों को राजनीतिक पृष्ठभूमि में रखकर अंकित करने का प्रयत्न किया है क्योकि पारिवारिक समस्याओं का सामना आज भारत का मध्यवर्ग निरंतर कर रहा है। परिवार और राष्ट्र के प्रति एक साथ ही कर्त्तव्यपालन अति कठिन हो जाता है, न तो पारिवारिक गुत्थियों की अवहेलना की जा सकती है, न व्यापक सामाजिक सम्बन्धों की।[2]

वास्तव में 'बीज' की सफलता उसके प्रमुख पात्रों मे है जो भारतीय मध्यवर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं। 'बीज' उपन्यास के पात्र बाबू भगवान सहाय में मध्यवर्गीय सभी दुर्बलताएँ

---

1 सुषमा धवन, हिन्दी उपन्यास, पृ.–284

2 प्रकाश चन्द्र गुप्त, आज का हिन्दी उपन्यास, पृ –99

विद्यमान हैं। अपनी पुत्री राजेश्वरी का विवाह करते समय वे प्रदर्शन मे कमी नही करते। राजेश्वरी की शादी मे "किसी बात मे कोताही नहीं की गई कि कोई हैड क्लर्क साहब का नाम धर सके। सभी उनकी शाहखर्ची की दाद दे रहे थे यहाँ तक कि लडके वाले भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे, पर यह बात वह ज़बान पर न लाते थे क्योकि ऐसा करने में उनकी हेठी होती।"[1]

राजेश्वरी का विवाह यद्यपि धूमधाम से होता है पर उसका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं रहता। पिता के प्रगतिशील विचारों ने शिक्षित राजेश्वरी के मन में प्रगतिशीलता के बीज बोये थे। राजेश्वरी का पति उसके ठीक विपरीत मिला जो पत्नी की शिक्षा को अभिशाप मानता है। परिणामतः उसकी अपने पति चंद्रमा बाबू से न निभ सकी। ससुराल से एक बार आने के बाद फिर न तो उसका मन दुबारा जाने को हुआ और न ससुराल वालों ने ही उसे दुबारा बुलाया। डॉ. मंजूलता सिंह[2] के शब्दों में, "राजेश्वरी का जीवन मध्यवर्ग की लड़कियों की घुटन और विवशता का सजीव चित्र है।"

महेन्द्र और राजेश्वरी के प्रेम–सम्बन्ध द्वारा लेखक ने मध्यवर्गीय युवाओं की उच्छृंखलता तथा धूर्तता को स्पष्ट किया है। महेन्द्र उन युवकों का प्रतिनिधि है जो केवल वासना की तृप्ति के लिए प्रेम का दिखावा करते हैं। राजेश्वरी के गर्भवती हो जाने पर महेन्द्र अपना उत्तरदायित्व नहीं समझना चाहता वरन् राजेश्वरी को ही दोष देता है। "मैंने किसी को गड्ढे–वड्ढे में नहीं गिराया जो कुछ हुआ तुम्हारी बेवकूफी से हुआ और जो कुछ हुआ समझ–बूझकर हुआ, तुमने अपनी खुशी से किया, तुम कोई नादान बच्ची नहीं थी।"[3] राजेश्वरी महेन्द्र से विवाह का आग्रह करती है परन्तु महेन्द्र परिणय–सूत्र में बँधना नहीं चाहता। महेन्द्र कहता है, "महेन्द्र कभी शादी नही करेगा, महेन्द्र किसी से बंधकर नहीं रहेगा, महेन्द्र लहरों की तरह आजाद रहेगा।"[4] महेन्द्र की नीचता उस समय चरम

1. अमृत राय, बीज, प्रथम संस्करण–1953 ई0, पृ.–6
2 मजूलता सिंह, हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग, पृ.–382
3 बीज, अमृत राय, पृ –356
4 वही, पृ.–358

सीमा पर पहुँच जाती है जब वह षड्यत्र करके इस उद्देश्य से राजेश्वरी की हत्या करा देता है कि उसका नाम बदनाम न हो। राजेश्वरी द्वारा भावावेश मे उठाया हुआ कदम उसके जीवन के विनाश का कारण बन जाता है। महेन्द्र और राजेश्वरी के माध्यम से अमृत राय ने प्रेम की उत्तरदायित्वहीनता का वर्णन किया है।

सत्यवान और उषा के माध्यम से मध्यवर्गीय परिवार की सम्मिलित प्रथा का अंत दिखाया गया है। सत्यवान उषा और अपनी माँ के बीच के पारिवारिक कलह का अंत माँ से अलग होकर ही कर पाता है। सम्मिलित परिवार क्यो और कैसे टूट रहे हैं, इसका कारण पुरानी और नई पीढ़ी का संघर्ष है। सत्यवान की माँ, बहू से संतुष्ट नहीं होती। उसे बहू की प्रत्येक बात में बराबर कमी दिखाई देती है। सत्यवान को लगता है कि माँ का अत्याचार बढ़ता जा रहा है और उषा तथा उसका जीवन धीरे–धीरे विषाक्त होता जा रहा है। सत्यवान, उषा और सत्यवान की माँ तीनों ही अंदर–अंदर एक–दूसरे से असंतुष्ट रहते हैं। घाव धीरे–धीरे पकता रहता है और उसका एकमात्र हल सत्यवान की समझ में यही आता है कि वह उषा को लेकर अलग रहे। सत्यवान क्षुब्ध होकर सोचता है, "दुनिया खामखा संयुक्त परिवार की लाश ढो रही है, संयुक्त परिवार मर गया। इन हालतों में संयुक्त परिवार अब चल नहीं सकता।"[1] सत्यवान अपनी पत्नी उषा को लेकर अलग हो जाता है और उषा यह समझती है कि वही इस पारिवारिक झगड़े की जड़ है। सत्यवान उषा को समझाता है, "पागल लड़की, खामखा अपने सर पर धूल उछाल रही है, वह न होती तो कोई दूसरी नयी रोशनी की लड़की इस घर में आती और उसके संग भी वही सब होता जो उषा के संग हुआ। यहाँ व्यक्तियों की बात नहीं है, यह तो दो युगों, दो दुनियाओं की टकराहट है।"[2]

अमृत राय को यह विश्वास है कि मध्यवर्गीय परिवारों में पति–पत्नी के बीच के अधिकांश झगड़ों का कारण बहुधा आर्थिक विषमता होती है और इस विषमता को प्रदर्शन

1. बीज, अमृत राय, पृ.–219
2. वही, पृ –224

की भावना से प्रोत्साहन मिलता है। मध्यवर्ग उच्चवर्ग की नकल करना चाहता है, प्रदर्शन से पूर्ण जीवन जीता है पर अपनी आर्थिक सीमाओ और विवशताओ के कारण उसे असफलता और बेबसी का शिकार बनना पडता है।

सत्यवान मध्य वर्ग की स्त्री की स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है, "स्त्री के पास पुरुष क्रीड़ा करने के लिए जाता है। स्त्री की दूसरी कोई उपयोगिता नही है। इसीलिए हमारे मिडिल क्लास घरों मे स्त्री की यह वीभत्स स्थिति है। स्त्री हर साल एक बच्चा पैदा करती है। ...खीझती है और लड़कों को थप्पड़ लगाती है और अपनी किस्मत को रोती है।"[1] सत्यवान अपनी पत्नी उषा में वह ऊब और थकान नहीं लाना चाहता जो मध्य वर्ग की स्त्रियों में प्रायः होती है, इसीलिए सत्यवान की प्रेरणा से उषा मे राजनैतिक चेतना जागृत होती है। पारिवारिक घुटन और समस्याओ को पीछे हटाकर वह आगे बढ़ती है और सही अर्थो में पति की संगिनी बनकर दिखाती है।

'बीज' उपन्यास में सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा राजनीतिक समस्याएँ अधिक विस्तार से वर्णित हैं। प्रफुल्ल बाबू, अमूल्य, सत्यवान, उषा, वीरेन्द्र, पार्वती, प्रमिला आदि सभी में राजनीतिक चेतना है और सभी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील हैं। सभी अपने–अपने ढंग से परतंत्रता और काले बाजार (ब्लैक मार्केट) की समस्या का निदान खोजते हैं। अमूल्य और सत्य साम्यवादी विचारों के समर्थक हैं जिनके मत से हिन्दुस्तानी ही ब्लैक मार्केटिंग करके अपने देशवासियो का रक्त चूस रहे हैं। प्रफुल्ल बाबू अपने पुत्र अमूल्य को समझाते हैं, "अकाल का कारण ब्लैक मार्केट नहीं है। देश का सारा गल्ला खींच कर मोर्चे पर पहुँचाया जा रहा है। इसीलिए देश पीला पड़ता जा रहा है, मरता चला जा रहा है, यह भूलने से काम नही चलेगा कि हमारे देश में विदेशी राज है जिसे बस अपनी लड़ाई जीतने की धुन है और अपनी इस धुन के पीछे किसी के मरने जीने का ख्याल नहीं है।"[2]

1. बीज, अमृत राय, पृ.–324
2. वही, पृ.–77

प्रफुल्ल बाबू ब्लैक मार्केट रोकने की बात कहते हैं और अमूल्य समझाता है कि बिना जनता और मजदूरो के सहयोग से थोड़े से लोग इस अव्यवस्था को दूर नहीं कर सकते। अमूल्य अपनी असमर्थता बताता है, ''शहर के हम और आप जो लोग हैं उनके सहयोग से ब्लैक मार्केट को रोकना असंभव है और उनका सहयोग सरकार किसी काम मे नहीं लेना चाहती क्योंकि वह साम्राज्यवादी सरकार है, वह हमको गुलाम बनाने वाली सरकार है और उसमें इतना दम ही नहीं है कि वह हमारी आपकी देशभक्ति को उभार सके''।[1]

अमूल्य कम्युनिस्ट पार्टी का सक्रिय कार्यकर्त्ता है, जेल जाता है, हड़तालें करवाता है और सत्यवान भी उसका साथ देता है। सत्यवान अकाल की प्रदर्शनी करता है, गरीबों के अधिकारों के लिए लड़ता है, भाषण देता है। अमूल्य की प्रेरणा से सत्यवान भी सक्रिय कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता बन जाता है और मजदूरों को बताता है कि अंग्रेजों ने भारत को नरक बना दिया है और अकाल, बेकारी, भुखमरी भारत को दे दी है।

सत्यवान मजदूरों में वर्ग–संघर्ष की चेतना उभारना चाहता है। उसने स्वयं मार्क्स तथा एंगेल्स का 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' पढ़कर नई चेतना को अनुभूत किया है। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र पढ़कर सत्य को सचमुच ऐसा लगा जैसे किसी ने उसे अंधेरे कुएँ में से निकाल कर सूरज की रोशनी में ला खड़ा किया हो, जैसे उसे दो नयी आँखें मिल गई हों।'[2] मार्क्स के सिद्धांतों के अध्ययन से सत्यवान को ऐसा अनुभव होता है कि मार्क्सवादी सिद्धांतों पर चलकर ही भारत में सामाजिक और वर्ग–संघर्ष की भावना का अंत होगा। मार्क्सवाद की रोशनी ने वर्ग–संघर्ष को सामने रखा है और उससे उत्पन्न विषमताओं पर प्रकाश डाला है। 'जब यह रोशनी नहीं थी, तब भी वर्ग–संघर्ष था और वह तब तक समाज से नहीं जा सकता जब तक कि वर्गों का खात्मा करके एक नये तरह के वर्गहीन समाज की रचना नहीं की जाती, जिसमें कोई किसी का मालिक नहीं है, जिसमें सब

1. वही, पृ.–78
2. वही, पृ–56

मजदूर हैं या किसान हैं, बुद्धिजीवी हैं, मेहनतकश हैं, सब साथी हैं, जिनमे चीजो की पैदावार मुट्ठी भर लोगो के यहाँ दौलत का अंबार लगाने के लिए नहीं, जनता की जरूरत के लिए की जाती है"।[1] इस तरह के आदर्श समाज की कल्पना की प्रेरणा सत्यवान को मार्क्सवाद के अध्ययन से प्राप्त होती है। मार्क्सवाद से केवल सत्यवान ही नही अमूल्य, वीरेन्द्र और प्रफुल्ल बाबू भी प्रभावित हैं।

सत्यवान से प्रेरित होकर उषा मजदूरो, मेहतरो और निम्नवर्ग के लोगों को पढ़ाती है, उनकी सेवा करती है और अपने समय का सदुपयोग करती है। जुलूस में वह आगे बढ़कर साथियों को प्रोत्साहन देती हुई कहती है, "साथियों, इम्तहान की घड़ी यही है। अपनी जगह से हिलो भी मत। हक के लिए लड़ने निकले हो तो हिम्मत से..." वाक्य पूरा भी नहीं हो पाता कि उषा पर लाठियों की वर्षा होने लगती है। लहुलुहान उषा को मेहतर अपनी बस्ती में लाकर आदर और सम्मान सहित सुश्रूषा करते हैं। उषा के पिता उषा को घर ले जाते हैं और उसी बीच सत्यवान भी जेल से छूट जाता है। उषा के घाव को देखकर उसके साहस की सराहना करता हुआ सत्यवान मन ही मन अनुभव करता है, "उषी तू नहीं जानती, तेरे इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा हुआ है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभाव का बीज"।[2] इस तरह 'बीज' उपन्यास में सन् 1942 ई0 के आंदोलन से लेकर स्वतंत्रता–प्राप्ति तक की राजनीतिक चेतना वर्णित है। साधारण जन–समाज स्वतंत्रता पाने के बाद भी सुविधाएँ नहीं पाता। आजाद हिन्दुस्तान, भारतीयों के वे सपने पूरे नहीं कर पाता जिनके लिए लोगों ने बलिदान दिए, कष्ट सहे और इस प्रकार स्वतंत्रता के उपरान्त भी जन–साधारण को केवल विक्षोभ, घुटन और विवशता ही प्राप्त होती है।

मजदूर और मेहनतकश लोग फिर भी उसी प्रकार से अपने अधिकारों के लिए लड़ते रहते हैं और उन्हें निराशा ही मिलती है। देश–प्रेम के नाम पर आजाद भारत के लोग

---

1 वही

2. वही, पृ–527

स्वार्थों की पूर्ति में लिप्त हैं। प्रफुल्ल बाबू के शब्दो मे, "वह जो दूसरा वाला देश-प्रेम था, उसकी असलियत आजादी के इस साल डेढ़ साल के अदर ही खुल गयी है। वह देश-प्रेम एक नकाब है, एक झिलमिल पर्दा, जिसके पीछे घूसखोर, परमिटबाज, कुनबापरवर दलालो का असली चेहरा छुपा हुआ है। आज वे दोनो हाथ से अपनी लम्बी लिविर-लिविर करती हुई जीभ से अपनी तिजोरियां भर रहे हैं।"[1]

वस्तुतः मध्यवर्गीय पात्रों के माध्यम से 'बीज' उपन्यास मे सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। मध्यवर्ग के पात्रो का दृष्टिकोण साम्यवादी है और साम्यवाद को ही 'बीज' के पात्र नवीन समाज-व्यवस्था के लिए समाधान मानते हैं। मध्यवर्ग के पुरुष और स्त्री-दोनों ही वर्ग-संघर्ष की समस्या को समाप्त कर स्वतंत्र भारत के उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखते हैं।

हालांकि अमृत राय[2] उपन्यास में नारेबाजी के सख्त खिलाफ थे, जैसा कि उन्होंने लिखा है, "इस बीच जनता से हमारे सम्बन्ध सूत्र टूट चुके थे। इसलिए स्वाभाविक ही था कि हम अपनी जनता की हार्दिकतम भावनाओं को, आशाओं और आकांक्षाओं को वाणी न देकर यांत्रिक, नारेबाजी शैली का साहित्य रचें जिसमें असलियत कम और बुखार ज्यादा हो।"

बावजूद इसके उनके उपन्यासों में गाहे-बगाहे नारेबाजी समाविष्ट हो गयी है, जैसा कि बच्चन सिंह[3] ने लिखा है, "अमृत राय का पहला उपन्यास 'बीज' (सन् 1953 ई0) मार्क्सवादी कार्यक्रम को अंजाम देने के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। प्रेमचंद की तरह इसमें भी परिवार के भीतर के ही सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को उठाने की कोशिश की गई है। किन्तु एक बंधे हुए नजरिये से परिवार और राजनीति की समस्याओं का सरलीकरण इसे प्रेमचंद की सहजता से परे हटकर यांत्रिक बना देता है। तत्कालीन

1. वही, पृ.-450
2. अमृत राय, 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', आलोचना के सौ बरस-1, वर्तमान साहित्य, पृ.-216
3 बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण, सन् 1997 ई0, पृ.-335

साम्यवादी विचारो और नारो की प्रतिध्वनियो से उपन्यास भरा पडा है। 'बुड्ढे गांधी' से कोई उम्मीद नही की जा सकती, 'रूस आज के इतिहास का ज्योतिषिक सत्य है', सन् 1942 ई0 की क्रांति आत्महत्या है, ...सच तो यह है कि यह उपन्यास तत्कालीन साम्यवादी सोच–विचार का भद्दा रूपक बन गया है। ... युवजनोचित उत्साह इसे एक ओर सपाट बनाता है, तो दूसरी ओर संवेदनाहीन उपदेश उद्देश्य का ही गला घोट देता है।"

लेकिन बच्चन सिंह यह देखने में चूक कर गये हैं कि स्वयं अमृत राय ने अपने उपन्यासो में प्रगतिशील कथाकारों की अनेक महत्वपूर्ण सीमाओं का अतिक्रमण किया है, साथ ही उन प्रगतिशील लेखको से असहमति जतायी है, जो देश की परिस्थिति को आवश्यकता से अधिक क्रांतिकारी समझते थे। अमृत राय[1] ने लिखा है, "एक भूल यह भी हुई कि देश की परिस्थिति को और उसकी सामाजिक स्थिति को असलियत से अधिक क्रांतिकारी समझ लिया गया और उसके अनुरूप रचनाएं लिखी जाने लगीं अर्थात् एक ओर जनता से सम्बन्ध का सूत्र टूट जाए और दूसरी ओर देश और समाज की स्थिति को असलियत से अधिक क्रांतिकारी समझ लेना इन दोनों स्थितियों ने मिलकर जहाँ नारे के साहित्य के सृजन के लिए जमीन तैयार किया वहीं निष्प्राण रचनाओं के सृजन की परिस्थिति तैयार की।"

अमृत राय की इस दृष्टिगत सचेतता का ही परिणाम है कि 'धुवाँ' उपन्यास का एक पात्र साम्यवादी दल की अलोचना करता हुआ कहता है, "...न इन्हें देश की वास्तविकता से कुछ लेना–देना है—अपना किताबी ज्ञान बघार रहे हैं, बाकी तो सब भटके हुए लोग हैं। कोई वामपंथी दुस्साहसिक, कोई दक्षिणपंथी संशोधनवादी—कोई रूस का प्रमाण देता, कोई चीन का। देश का प्रमाण किसी के पास न था।"

अपने दूसरे उपन्यास **'नागफनी का देश'** में अमृत राय ने मध्य वर्ग के कुंठित और असफल पारिवारिक जीवन का वर्णन किया है। इस औपन्यासिक कृति में मुख्य

1 अमृत राय, 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', आलोचना के सौ बरस–1, वर्तमान साहित्य, पृ –217

पात्र चार हैं—रंजीत, बेला, श्रीकांत तथा मदालसा। इन चार पात्रो के माध्यम से प्रेम, विवाह एवं अर्थ ये तीन प्रमुख समस्याएं वर्णित हैं। रंजीत का बेला से प्रेम विवाह होता है, लेकिन विवाह के उपरान्त ही आर्थिक विषमताओ मे प्रेम का बीज झुलस जाता है और अतृप्ति एवं असंतोष की समस्या उभरकर सामने आती है। बेला की सारी उमंगे समाप्त हो जाती हैं केवल रंजीत से विवाह करने का पश्चाताप उसे कचोटता रहता है। बेला सोचती है—"मगर कमाई। वही ढाक के तीन पात। कभी तीन सौ घर मे देते हैं, कभी साढ़े तीन सौ और समझते हैं किला जीत लिया। सारी उमंगों को एक सिरे से मैंने दफना दिया है।"[1]

आर्थिक विषमताएं पारिवारिक जीवन के संतोष को समाप्त कर देती हैं। पति–पत्नी के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी हो जाती है और एक ही घर में रहकर भी वे दो अजनबी के समान जीवन बिताते हैं। बेला को पति से शिकायत है कि वह साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धन नहीं कमा सकता और रंजीत को शिकायत है कि बेला जीवन के आदर्शो से गिरकर केवल भौतिक जगत् की सुविधाओं की चिन्ता करती है। रंजीत बहुत समय तक बेला की उपेक्षा सहता रहता है लेकिन अपने मित्र श्रीकांत की ओर बेला को आकर्षित होते देखकर वह बेला को मुक्त जीवन बिताने का अवसर देकर घर छोड़कर चला जाता है। रंजीत अपना क्षोभ इन शब्दों में व्यक्त करता है, "तुम जिस शान–शौकत में पली थी, वह मैं तुम्हें नहीं दे सका, यह मेरी मजबूरी थी। मैं कुछ ऐसा बना था कि चाहकर भी कभी पैसे को इंसान के ऊपर दर्जा नहीं दे सका।"[2] ध्यातव्य है कि रंजीत में मध्यवर्ग की आदर्शप्रियता है और इसीलिए वह बेला के साथ कभी भी दुर्व्यवहार नहीं करता।

रंजीत के मित्र श्रीकांत और उनकी पत्नी कमला भी मध्यवर्ग के असफल दम्पति हैं। श्रीकांत विलासी, धोखेबाज और भ्रमर–वृत्ति का युवक है। श्रीकांत के आकर्षक व्यक्तित्व

1. नागफनी का देश, अमृत राय, प्रथम सस्करण 1956, पृ–13
2. वही, पृ–88

के कारण बेला उसकी ओर मन–प्राण से समर्पित होने लग जाती है। श्रीकांत के आने की सूचना पाकर उसकी उदासी सहज में ही दूर हो जाती है। लेकिन श्रीकांत के आने के पूर्व ही मदालसा आकर बेला के स्वप्नो को तोड़ देती है। मदालसा भी अनजाने ही श्रीकांत के प्रेम का शिकार बन जाती है। मदालसा अपनी मजबूरियो को बेला को बताती है और साथ ही यह भी भेद खोल देती है कि श्रीकांत का प्यार, वायदे सब झूठे हैं। श्रीकांत की पत्नी भी है, बच्चे भी हैं पर वह स्वच्छंदताप्रिय युवक है। बेला को युगो के पश्चात् पति का ध्यान आता है और तब उसे पता चलता है कि रंजीत भी उसे उन्मुक्त जीवन जीने देने के लिए छोड़ कर चला गया है। मध्यवर्ग की बेला की असहायावस्था और घुटन का चित्र अंत में पाठकों के सामने आता है, "बेला कटे रूख की तरह रंजीत के सूने बिस्तर पर गिर पड़ी, जिस पर रंजीत कल रात सोया था और अब कभी नहीं सोवेगा। अब वह होगी और होगा यह नाफनी का देश—सूना, बीहड़, कंटीला..."[1]

इस प्रकार 'नागफनी का देश' उपन्यास मध्यवर्ग की घुटन, कुंठा और प्रेम की सहज अभिव्यक्ति करता है। इस उपन्यास में प्रेम और अर्थ का संघर्ष ही मध्यवर्ग की प्रमुख समस्याओं के रूप में चित्रित है। संपूर्ण उपन्यास पर दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार ने अपनी इस कृति मे मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ और कल्पना के बीच की दूरी को मध्यवर्ग के प्रेम और विवाह के माध्यम से प्रदर्शित किया है। मंजूलता सिंह[2] के मतानुसार, "लेखक का विश्वास है कि बिना सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था के केवल भावना पर आधारित प्रेम क्षणिक होता है। प्रेम को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए एक ठोस आर्थिक आधार की आवश्यकता होती है। यह ठोस आधार ही मध्यवर्ग का यथार्थ है जिसकी उपेक्षा कर अधिकांश मध्यवर्गीय व्यक्ति घुटन, कुंठा तथा असफलताओं का शिकार होता है।"

---

1. नागफनी का देश, अमृत राय, पृ. 91
2. मंजूलता सिंह, हिन्दी उपन्यासो में मध्यवर्ग, पृ.–388

अपने तीसरे उपन्यास **'हाथी के दांत'** मे सामती व्यवस्था के प्रतीक ठाकुर प्रदुमन सिह के अत्याचार एवं विलास–व्यभिचार की कथा है। ठाकुर साहब के कुकृत्यों, अत्याचारों तथा बाह्य प्रदर्शन का वर्णन इस उपन्यास मे प्रमुख रूप से किया गया है। ठाकुर साहब की प्रधान कथा के साथ ही चम्पा और चंद्रिका की कहानी भी चलती है जो निम्न मध्यवर्ग से संबंधित पात्र हैं और ठाकुर साहब के शोषण के शिकार बनते हैं। चम्पा और चंद्रिका के द्वारा मध्यवर्ग की आर्थिक विवशताओं का वर्णन किया गया है।

चम्पा निम्न मध्यवर्ग की युवती है जो अपने पति की आय से संतुष्ट नही है। निम्न मध्यवर्ग के परिवारों में आर्थिक कष्टो को झेलती हुई नारियाँ बहुत मिलती हैं। चम्पा अपनी आर्थिक स्थिति से अपेक्षाकृत अधिक महत्वाकांक्षी नारी है और इन महत्वाकांक्षाओ की अपूर्णता ही उसके पारिवारिक कलह का कारण बनती है। अपनी दयनीय आर्थिक स्थिति के प्रति उसके मन मे भयंकर आक्रोश है। वह सोचती है, "यह भी कोई ज़िन्दगी है। अपने–अपने भाग्य की बात है, नहीं मैं क्या किसी से रूप में कम हूँ। पर कहाँ का रूप और कहाँ का रंग। इनकी तो इतनी भी कमाई नही कि दो चार कपड़े ही ढंग से कर देते। भगवान जाने यह कैसी नौकरी है जिसमें कभी पैसे के दर्शन ही नहीं होते।"[1] चम्पा की स्थिति का लाभ ठाकुर साहब उठाते हैं ओर चोरी–छिपे भेंट पहुँचाकर उसके शरीर का सौदा करते हैं। इस प्रकार चम्पा का चारित्रिक पतन होता है और अंत में रूप तथा यौवन के समाप्त होने पर ठाकुर साहब उसे दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक देते हैं।

'हाथी के दाँत' की दूसरी प्रमुख समस्या मध्यवर्ग के आत्मसम्मान की भावना से सम्बद्ध है। चम्पा का पति चंद्रिका गरीब होकर भी सम्मानप्रिय है। पत्नी के बारे में उड़ती हुई खबरों पर उसे विश्वास नही होता। "चंद्रिका गरीब सीधा आदमी था मगर उसकी भी अपनी इज्जत थी और कोई उसकी स्त्री के बारे में ऐसी–वैसी बात कहे वह उसे

1 हाथी के दॉत, अमृत राय, पृ.–15

मंजूर न थी।'[1] चंद्रिका का संदेह धीरे–धीरे विश्वास मे बदलता जाता है, लेकिन वह ठाकुर साहब का कुछ बिगाड़ नही पाता। ठाकुर साहब और चम्पा को व्यभिचार करते देखकर वह दोनों से बदला लेने की सोचता है, लेकिन जब तक वह कुछ करे, ठाकुर साहब गला दबाकर उसकी हत्या कर देते हैं और उसकी लाश को फेकवा देते हैं। ठाकुर साहब के पैसे के आगे पुलिस भी चुप रहती है, थानेदार उनके मित्र हैं, इसलिए कोई शंका नहीं करता। इस प्रकार 'हाथी के दाँत' के मध्यवर्गीय पात्र ठाकुर साहब (जमीदार वर्ग) के शोषण का शिकार होते हैं।

मध्यवर्ग की नवीन चेतना 'हाथी के दाँत' की रत्ना मे देखी जा सकती है। ठाकुर के अवैध पुत्र से मिलकर वह ठाकुर साहब के विरोध मे जुलूस निकालती है और स्वयं उसका नेतृत्व करती है। राम सिंह के मना करने पर वह कहती है "अब तक औरते किसी गिनती में नहीं थीं। लोग उन्हें घर का आभूषण बनाये हुए थे। लेकिन अब वह जाग रही हैं, इसलिए उन्हें आगे आने का मौका देना चाहिए। इतना ही नहीं उन्हें इसलिए भी हक है कि वही इस अत्याचारी का खास शिकार रही हैं।"[2] रत्ना केवल जुलूस का नेतृत्व ही नहीं करती, राम सिंह की रक्षा करते हुए गोली का शिकार भी होती है। इस प्रकार उपन्यास में एक ओर पैसे के लिए अपने को बेचने वाली चम्पा जैसी मध्यवर्ग की युवतियाँ हैं तो दूसरी ओर प्रतिशोध लेने वाली रत्ना जैसी सम्मानप्रिय स्त्रियाँ भी हैं।

उपन्यास की व्यंग्यपूर्ण शैली में तीखेपन के बावजूद डॉ. शिवनारायण श्रीवास्तव[3] संतुष्ट नज़र नहीं आते हैं। उन्होंने लिखा है–"लेखक के राजनीतिक पूर्वग्रह ने ठाकुर साहब के चित्र के एक ही पहलू को देखने–दिखाने का प्रयत्न किया है।"

'जंगल' नामक लघु–उपन्यास में अमृतराय ने सम्पन्नता के बीच खिलने वाली अनैतिकता

1. अमृत राय, हाथी के दॉत, पृ.–35
2. वही, पृ.–149
3. डॉ. शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास, पृ –416

एवं मूल्यहीनता को उजागर किया है। श्री धनंजय वर्मा[1] के मुताबिक –"उपन्यास मे एक प्रखर और निर्मम व्यंग्य की अन्तर्धारा शुरू से अंत तक है... वाणी से दग्ध करने की विलक्षण प्रतिभा का नमूना... एक बेहद शातिर और शरारत–भरा अंदाज जो हँसते–हँसते वार करता चले... तेजी से बहकता हुआ कथानक... रंगारंग स्थितियाँ–एक से एक दिलचस्प प्रसंग..."

'सुख–दुख' मे गिरीश, विमला या मुंशी जी के वैयक्तिक सुख–दुःखो को उनके यथार्थ में अंकित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अमृत राय ने वर्गगत यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त वैयक्तिक यथार्थ को उकरने मे भी कोई कसर नहीं छोड़ी है। यह यथार्थ निष्ठा इस उपन्यास को प्रभावशाली बनाने में सफल सिद्ध हुई है। हालांकि डॉ. गोपाल राय[2] इसकी प्रभावशीलता का कारण कुछ और बताते हैं। उन्होंने लिखा है, "यह उपन्यास पाठकों के मन पर गहरा प्रभाव इसलिए छोड़ता है कि अमृतराय के लेखन में अनुभव प्रामाणिकता, अनूभूति की गहराई और संवेदना की तीव्रता के साथ–साथ भाषा पर सहज अधिकार भी है... इसका एक प्रभाव एक ऐसे वाद्य संगीत का है जिसमें करुण और मधुर राग–रागिनियाँ मिला दी गयी हैं।"

'भटियाली' में अमृतराय ने एक दूसरी समस्या को केन्द्र में रखा है और यह समस्या है बूढ़ों तथा अपाहिजों का संरक्षण। चित्रा नामक पात्र अपनी इच्छाओं का बलिदान करती है क्योंकि वह अपने अपाहिज चाचा को नहीं छोड़ सकती। 'भटियाली' में भी 'नागफनी का देश' की तरह प्रेम का त्रिकोण है। आचार्य विष्णुकांत शास्त्री[3] के शब्दों में–"सहज मानवी धरातल की गंभीर प्रेम–कथा... भटियाली में प्रथम प्रेम का हिल्लोलित रोमांस नहीं है, चोट खाये हुए व्यक्तियों द्वारा परिपूरक साहचर्य की तलाश है।"

---

1. धनंजय वर्मा, हमारे प्रकाशन, हंस प्रकाशन, पृ –8
2. डॉ. गोपाल राय, हमारे प्रकाशन, हंस प्रकाशन, पृ.–8
3. विष्णुकांत शास्त्री, हमारे प्रकाशन, हंस प्रकाशन, पृ –8

'नागफनी का देश', 'हाथी के दाँत', 'जंगल' और 'सुख-दुख' के बाद अमृत राय का एक वृहद्काय उपन्यास **'धुआँ'** सन् 1977 ई0 मे प्रकाशित हुआ। इसमे एक विशाल फलक पर देश में व्याप्त बहुस्तरीय भृष्टाचार को बौद्धिक दृष्टि से देखा गया है। भटकती हुई नई पीढी, दिशाहीन राजनीतिक दल, आर्थिक विषमताओ की खाई, विश्वविद्यालयो के लक्ष्यहीन कुपढ नवयुवक, साधन-संपन्न लड़के-लड़कियो की फैशनपरस्ती इत्यादि की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत की गयी है।

'धुआँ' में काजल और लतिका दो ऐसे स्त्री-पात्र हैं जिनको नियति-निर्धारक समाज ने 'पतिता' का नाम दिया है। काजल युवती है, जो पुनर्विवाह नहीं करती, लतिका दंगों और आतताइयों का परिणाम ढोती हुई लड़की है। एक तरफ समाज पतित करता है और उल्टे उन्हें पतिता कहता है-"शरीर का व्यवसाय करने वाली किसी लड़की को कुलटा कह देना कितना सरल है। हमारा यह पवित्र्याभिमानी ढोंगी समाज! नितांत क्रूर, अहिंसक ढंग की अपनी क्रूरता में।... किसे इतनी फुर्सत है कि एक-एक कुलटा की जीवन कहानी सुनता फिरे, सब पर एक ठप्पा लगाया और छुट्टी। बड़े-बड़े समाज-सुधारक भी जो करुणा विगलित होकर उन पतिताओं का सुधार करने चलते हैं वे भी बस बातों के शेर हैं।"[1]

आशय यह कि अमृत राय ने 'धुआँ' में शोषित नारी के बाह्य एवं अंतर्जगत पर पैनी निगाह रखी है। लेकिन 'धुआँ' उपन्यास के कथ्य एवं उसमें निहित प्रगतिशील दृष्टि पर सवालिया निशान लगाते हुए बच्चन सिंह[2] ने लिखा है-"बीज के लेखक का सारा उत्साह ही धुआँ हो गया है।... बीज में तो प्रेम और विवाह को प्रगतिशील नजरिये से रखा गया था किन्तु धुआँ के नारायण और रागिनी का प्रेम तो एक प्रतिक्रियावादी परिणय तक पहुँच जाता है। इस उपन्यास में अमृत की भाषा की आग धुआँ हो जाती है।"

1. अमृत राय, धुआँ, पृ-97
2. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण-1997, पृ-336

इस बात से सहमत होने मे थोड़ी कठिनाई है क्योकि अमतृ राय की आस्था समाजवादी है, पर कोरी समाजवादी नही। इस बात की पुष्टि 'धुआँ' के कथ्य से होती है। उन्होंने 'धुआँ' मे कोरी समाजवादी, कोरी कम्युनिस्टवादी, कोरी मार्क्सवादी विचारधारा, जो आधारहीन है, उसका पर्दाफाश किया है, जो उनकी मार्क्सवादी चेतना पर प्रश्नचिह्न नही लगाती, बल्कि उसके प्रति सजगता की सूचक है। 'धुआँ' उपन्यास के एक पात्र के हवाले से अमृत राय[1] ने साम्यवादी दल की आलोचना करते हुए कहा है, "न इन्हे देश की वास्तविकता से कुछ लेना देना है–अपना किताबी ज्ञान बघार रहे हैं, बाकी तो सब भटके हुए लोग हैं। कोई वामपंथी दुस्साहसिक कोई दक्षिणपंथी संशोधनवादी–कोई रूस का प्रमाण देता, कोई चीन का। देश का प्रमाण किसी के पास न था।"

इस प्रकार अमृत राय मनुष्य के बेहतर भविष्य के प्रति आस्थावान हैं, जो किसी भी स्तर पर नहीं डगमगाती है। उन्होंने वर्ग–चेतना से प्रेरित होकर वर्ग–वैषम्य से पीड़ित मानव के जीवन की करुण कहानी को अपने उपन्यासो में प्रस्तुत किया है।

अमृत राय के उपन्यासों के बारे में टिप्पणी करते हुए मंजूलता सिंह[2] ने लिखा है, "अमृतराय के उपन्यासों के अधिकांश पात्र साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होकर मार्क्सवादी दर्शन के प्रचारक अधिक प्रतीत होते हैं। लेखक का मार्क्सवादी पूर्वाग्रह उनके चारित्रिक विकास को दुर्बल बना देता है।"

वास्तव में अमृत राय के उपन्यासों की महत्त्वपूर्ण विशेषता–सामाजिक यथार्थ का जीवन्त चित्रण और सम–सामयिक चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति है। इसलिए उनके उपन्यासों में तमाम पात्र हैं, जो पूर्णतः या अंशतः समस्याओं तथा जीवन पर उनके अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। अमृत राय की रचना–दृष्टि सन् 1952 ई0 से सन् 1977 ई0 तक प्रकाशित सात उपन्यासों में व्यावहारिक रूप लेती प्रतीत होती है, और यही कारण

---

1 अमृत राय, धुआँ, पृ.–78

2. मंजूलता सिंह, हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग, पृ.–390

है कि उपन्यासो के केन्द्र मे यथार्थ ही वस्तु–क्षेत्र बनकर उभरा है। चूँकि अमृत राय जीवन के प्रति प्रतिबद्ध लेखक हैं, इसलिए वह उन मूल्यो के प्रति आस्थावान हैं, जिन्हे जिन्दा रखने के लिए मानव सदैव संघर्षरत् रहा है। सच्चाई यह है कि वे अपने उपन्यासो मे जिस एक बड़ी समस्या को तमाम दूसरी समस्याओ के संदर्भ मे उभारकर प्रस्तुत करते रहे हैं वह और कुछ नही वरन् पूरी की पूरी समाज–व्यवस्था को मनुष्य-हित में बदलने की समस्या है। इस बात से सहमत होते हुए डॉ. राजेश दूबे[1] ने लिखा है, "अमृत जी ने यह समस्या कोरे मानवतावाद की भूमि पर अथवा मात्र सदाशयता की भूमि पर प्रस्तुत नही की, वरन् एक सुलझे हुए राजनीतिक और विचारक के रूप मे प्रस्तुत की है। अमृत जी समाजवादी आस्था के विचारक हैं और स्पष्ट है कि वे एक वर्ग–विहीन शोषणरहित समाज–व्यवस्था की स्थापना के हिमायती हैं।"

1 डॉ. राजेश दूबे, 'हॅसते–बोलते दस्तावेज', पृ –83

चौथा अध्याय

'कलम का सिपाही' : जीवनी साहित्य में एक सर्जनात्मक हस्तक्षेप

(क) जीवनी विधा की रचनात्मक संभावनाओं का नवोन्मेष

(ख) प्रेमचंद की जीवनी के बहाने प्रगतिशीलता के सहज स्वरूप की पहचान

जीवनी-साहित्य संसार की उन्नतिशील भाषाओ मे साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और वह अपना स्वतन्त्र और विशिष्ट अस्तित्व रखता है। ऐतिहासिक वास्तविकता, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और साहित्यिक माधुर्य मिलकर इस सारगर्भित साहित्यिक अंग को विशिष्टता प्रदान करते हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य उन्नतिशील देशो की भाषाओं मे साहित्य के इस अंग का विकास पहले आरम्भ हो गया था लेकिन हिन्दी के जीवनी साहित्य का आधुनिक रूप बीसवी शताब्दी की देन है। इसके पूर्व जो कुछ था, वह जीवन की अस्पष्ट घटनाओं का वर्णनात्मक उल्लेख था, जिनमे लेखक की श्रद्धा, भक्ति और प्रशंसात्मक भावनाएँ मुख्य थी। उनमें वैज्ञानिक विश्लेषण तथा साहित्यिक पुट का सर्वथा अभाव था।

जीवनी के कुछ रूप मध्यकालीन ब्रजभाषा मे मिलते हैं जैसे नाभादास कृत 'भक्तमाल' (17वीं शती) तथा 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' (17वीं शती)।

आधुनिक काल के आरम्भ मे जीवनी के नायकों के लिए प्रायः महाकाव्योचित गुण आवश्यक समझे जाते थे। जीवनियों का प्रस्तुतीकरण पहले प्रकाशकीय स्तर पर आरम्भ हुआ। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में कलकत्ता और वाराणसी के प्रमुख प्रकाशकों के विज्ञापनों को देखने से पता चलता है कि वे तीन तरह की किताबें आवश्यक रूप से तैयार करवाते थे–एक तो जासूसी और रहस्य-रोमांच के उपन्यास, दूसरे पढ़ने योग्य थियेट्रिकल नाटक, और तीसरे आदर्श जीवन-वृत्त। इस प्रकार की जीवनियाँ जनसाधारण को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की जाती थी, उनके पीछे किसी प्रकार की कलात्मक प्रेरणा नहीं दिखायी देती है।[1] अधिकतर पौराणिक और ऐतिहासिक और कभी-कभी समसामयिक चरित्रों को जीवनी के नायक रूप मे चुना जाता था।

व्यावसायिक धारा से कुछ भिन्न रूप में हिन्दी के आरंभिक गद्य लेखकों द्वारा लिखी हुई जो जीवनियाँ हमारे सामने आती हैं, उनकी मूल वृत्ति भी परिचयात्मक और उपदेशात्मक है। इस युग के जीवनीकार की दृष्टि आदर्श और शिक्षाप्रद जीवनी अंकित करने की है,

1 'हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास', डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, सस्करण 2001 ई0 , पृ –159

उसकी प्रेरणा व्यावसायिक हो या फिर सुधारवादी। मानव व्यक्तित्व की व्याख्या, उसके संघर्ष और अंतःप्रक्रियाएँ जीवनी या आत्मकथा का हिस्सा बन सके, यह उद्देश्य इन लेखको का नही था और न इसके योग्य विकसित गद्य उनके पास था।[1]

साहित्यिक ढंग से लिखी गई, या कि ठीक-ठीक कहे तो साहित्यकारो द्वारा लिखी गई जीवनियो का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से होता है। जीवनी-लेखन के इस दौर मे क्रमशः वस्तुपरकता के साथ-साथ साहित्यिक भाषा-शैली का भी विकास हो रहा था। शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के प्रचार-प्रसार की बदौलत कुछ नये जीवन-मूल्य अस्तित्व में आये, एक नयी वैज्ञानिक चेतना के प्रति आत्मीयता बढ़ी। जीवनी लेखन के लिए कुछ अनिवार्य सांस्कृतिक परिस्थितियाँ निर्मित हुईं।

वैसे तो देखने-सुनने में संस्मरण और जीवनी दोनों पर्याय मालूम पड़ते हैं, क्योंकि दोनों ही अतीत जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करते हैं। किन्तु दोनों की चित्रणकला में भेद होता है। संस्मरण लेखक साहित्यकार पहले होता है, इतिहासकार बाद मे, इसके विपरीत जीवनी-लेखक इतिहासकार पहले होता है और साहित्यकार बाद में। एक में कलाकार के व्यक्तित्व के भावमय चित्रों की प्रधानता होती है, दूसरे में तटस्थ वर्णनों की। यही दोनों में मौलिक अंतर है। इसका आशय यह न निकालना चाहिए कि इतिहास और जीवनी एक ही हैं। कहते हैं 'इतिहास महान् व्यक्तियों की जीवनी है'–यह बात ठीक होने पर भी इतिहास और जीवनी में अंतर है। क्योकि ई. एच. कार[2] ने लिखा है, "अच्छी जीवनी बुरा इतिहास होता है।" कारण यह कि व्यक्ति अध्ययन में लेखक का दृष्टिकोण सामान्य रूप में जीवनीपरक ही रहता है। इस अध्ययन से इतिहास का भी लाभ होता है। परंतु जीवनी की तुलना में इतिहास का फलक विस्तृत होता है।

लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि जीवनी रेखाचित्र का पर्याय है। दोनों में अंतर है। जीवनी में कल्पना कम और बुद्धि तथा भावना अधिक रहती है, किन्तु रेखाचित्र में

1 वही, पृ. 160
2. ई. एच. कार, 'इतिहास क्या है?' (अनुवादक—अशोक चक्रधर), पृ 48

तीनो का समान रूप से उपयोग किया जाता है। जीवनी मे लेखक की दृष्टि सर्वांगीण चित्रण की ओर रहती है, जबकि रेखाचित्रकार की दृष्टि खंडित जीवन की ओर। जीवनी मे लेखक की निजी कल्पना और अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ उतना महत्त्व नहीं रखती, जितना रेखाचित्र मे। जीवनीकार शब्दो का प्रयोग वर्णन के प्रवाह के लिए करता है, जबकि रेखाचित्रकार शब्दो का प्रयोग चित्र बनाने के लिए करता है।

इसी तरह आत्मकथा और जीवनी भी एक-दूसरे से मिलती-जुलती विधाएँ हैं, फिर भी इन दोनों मे भेद है। इनमें मुख्य अंतर यह है कि जहाँ आत्मकथा का लेखक अपने जीवन के बारे मे खुद लिखता है, वहाँ जीवनी लेखक किसी दूसरे व्यक्ति मे बारे में लिखता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं लिखी गयी अपनी जीवनी आत्मकथा है। इसके विपरीत, जब कोई लेखक किसी व्यक्ति के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ को रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है तो उसे जीवनी कहते हैं।

आत्मकथा में लेखक अपने बीते हुए जीवन पर दृष्टि डालता है, अपने अतीत का विश्लेषण करता है, इसलिए उसे बाहरी सामग्री की तलाश नहीं करनी पड़ती, जबकि जीवनी-लेखक के लिए इसकी आवश्यकता रहती है। जीवनी-लेखक जिसकी जीवनी लिखे, यदि उससे उसका निकट का संपर्क हो तो यह अच्छी बात है। यदि चरित-नायक से लेखक का निकट का संपर्क न हो तो वह अपने चरित-नायक के जीवन की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करे। इसके लिए वह निम्नलिखित स्रोतों का उपयोग कर सकता है :

(i) उस विषय या उससे संबंधित विषयों पर लिखित पुस्तकों या लेखों का,

(ii) मूल सामग्री जैसे चरित-नायक द्वारा लिखित डायरी, पत्रों आदि का,

(iii) चरित नायक के समकालीनों के संस्मरणों का,

(iv) संबंधित स्थानों के भ्रमण से प्राप्त तथ्यों का,

(v) किसी अन्य स्रोत से प्राप्त जानकारी का।

आत्मकथा और जीवनी मे कुछ समानताएँ भी हैं। आत्मकथा और जीवनी लिखने के लिए यह जरूरी नही कि व्यक्ति के जीवन की सभी घटनाएँ ली जाएँ, किन्तु इनमे हृदय को छूने वाली अथवा जीवन मे मोड़ लाने वाली घटनाओ का समावेश आवश्यक है। इनमे चरित-नायक के जीवन की प्रामाणिक और तथ्यपरक जानकारी की अपेक्षा रहती है, इसलिए कल्पना और कृत्रिमता के लिए इनमे कोई स्थान नहीं होता। साहित्य के अन्य रूपो के समान, आत्मकथा और जीवनी की शैली भी प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। जीवन मे घटित घटनाओं के क्रम का भी इन विधाओ में ध्यान रखना होता है। दूसरे शब्दो में घटनाएँ उसी क्रम मे लिखी जानी चाहिए, जिस क्रम में वह घटी हों। आत्मकथा और जीवनी यदि प्रभावपूर्ण शैली में लिखी गयी हो तो वे उपन्यास की भाँति रोचक हो सकती हैं।

(क) जीवनी विधा की रचनात्मक संभावनाओं का नवोन्मेष :

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी[1] का मानना है, "व्यक्ति को केन्द्र बना कर पूरे समाज का चित्र प्रस्तुत करने की एक स्थिति ऐसी होती है जहाँ जीवनी-नायक के महत्त्वपूर्ण होने की शर्त नहीं रह जाती। एक साधारण-सामान्य व्यक्ति को उपलक्ष्य बना कर भी समाज और व्यक्ति का सजीव अंकन संभव होता है। यह जीवनी लेखन के क्षेत्र में एक नया और महत्त्वपूर्ण विकास है। निराला द्वारा प्रस्तुत 'कुल्ली भाट' (1939) ऐसी ही रचना है।"

कुछ ऐसी ही चिन्ता अमृत राय की भी रही है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी[2] के अनुसार, "प्रेमचंद : कलम का सिपाही (1962) के लेखक की कुछ अधिक ही चिंता इस बात के लिए रही है कि वह पुत्र द्वारा लिखित पिता की जीवनी की शकल न ले ले। लेखक ने काफी निर्ममतापूर्वक, यद्यपि कि मौलिक सहानुभूति के साथ, चरितनायक का जीवन अंकित किया है।"

प्रेमचंद ने अपने जीवन को 'सपाट, समतल मैदान' बताया है, जैसा कि वह सचमुच

---

1. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', सस्करण 2001, पृ. 161
2 वही, पृ. – 256

है भी। यहाँ रोचक प्रसंग एक बार फिर उठता है प्रेमचद द्वारा सपादित 'हंस' के आत्मकथांक का। इस विशेषांक के लिए उनके समकालीन कवि और मित्र जयशकर प्रसाद ने एक कविता लिख कर दी थी। उसकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाये आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नही कि औरो की सुनता मैं मौन रहूँ?

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी[1] के अनुसार, "प्रसाद की अभी तक जीवनी लिखी नही गई और प्रेमचंद की जीवनी प्रायः वैसी ही है जैसी कामना उनके कवि-मित्र ने अपने लिए की थी। ऐसी स्थिति में घटनापूर्ण इतिवृत्त की कमी को पूरा करने का एक उपाय लेखक ने निकाला है। प्रेमचंद का जीवन, उनके समय की ऐतिहासिक परिस्थिति और उनकी रचनाओं के बीच ताल-मेल बैठाने का काम जीवनीकार ने किया है। बहुत बार एक अध्याय जीवन-वृत्त को लेकर चलता है और अगले अध्याय में जीवनी के उस काल खंड विशेष की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। इस प्रक्रिया में पूरी रचना की समरसता को कहीं-कहीं आघात पहुँचा है। संपूर्ण जीवनी का एक विशिष्ट पक्ष यह है कि युग की प्रवृत्ति के अनुरूप यहाँ महान और उदात्त घटनाओ पर बल न देकर लेखक ने सामान्य मनुष्य जीवन की ही रचना का यत्न किया है।"

इस बात को अमृत राय[2] ने स्वयं स्वीकार भी किया है, "किताब लिखनी जब शुरू हुई तब कितनी ही बार मेरे हाथ-पैर फूल गये। मैं समझ ही न पाता था कि मैं इसमें लिखूँगा क्या, किताब आगे बढ़े तो कैसे बढ़े। लेकिन जब इसी पीड़ा और उद्वेग में से अचानक यह गुर मेरे हाथ लगा कि इस व्यक्ति के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़कर तो देखो, तब जैसे सारे बंद दरवाजे यकायक खुल गये और इस अति सामान्य जीवन को एक नया आशय, एक नयी अर्थवत्ता मिल गयी।"

---

1. वही, पृ. – 257
2. अमृत राय—'कलम का सिपाही', प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ 11

छायावाद के प्रमुख कवि निराला का जीवन जैसा घटनापूर्ण और विवादग्रस्त प्रसंगो से युक्त है वैसी ही जीवनी उनके निकट मित्र और आलोचक रामविलास शर्मा ने लिखी है। परंतु डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी[1] ने टिप्पणी की है कि रामविलास के लिए निर्विवाद रूप मे कुछ लिख पाना बड़ा मुश्किल काम है भले वह अपने वरिष्ठ कवि-मित्र की जीवनी हो।

आधुनिक काल के एक अन्य प्रसिद्ध कवि सुमित्रानंदन पंत की जीवनी उनकी बहिन और दर्शनशास्त्र की विदुषी शांति जोशी द्वारा लिखी गई है। प्रायः पूरी जीवनी चरितनायक के जीवन-काल में तैयार हो गई थी, इसलिए लेखिका को बहुत से तथ्यों की सही जानकारी और छानबीन करने में सुविधा रही।

यह सुविधा अमृत राय को प्राप्त नहीं हो पायी। और तो और प्रेमचंद ने डायरियाँ, जर्नल आदि भी नहीं लिखे थे, जिससे अमृत राय को मदद पहुँचती। अमृत राय[2] ने लिखा है, ''बहुत बार लेखक की अपनी डायरियों और जर्नलों से जीवनीकार को बहुत मदद मिल जाया करती है। प्रेमचंद को डायरी या जर्नल लिखने की आदत न थी। इस तरह जीवनी की सामग्री का एक बड़ा कोष एक सिरे से खत्म हो गया।''

हालांकि कलम का सिपाही की भूमिका में अमृत राय ने बताया है कि प्रेमचंद को डायरी लिखने की आदत न थी। परंतु सन् 1985 ई0 में प्रकाशित अपनी ही पुस्तक 'प्रेमचंद की प्रासंगिकता' में उन्होंने बताया है, ''कोई बात उनके (प्रेमचंद के) दिमाग में कौंधी तो उसे वे अननोटिस्ड नहीं जाने देते थे, अपनी डायरी में टाँक लिया करते उस कथाबीज को। इसे एक तरह से 'मेमोरी एड' कह सकते हैं। ...जब ऐसी कोई बात खो जाती है तो लाख सर मारो याद नहीं आती। फिर बहुत पछतावा भी होता है। इसीलिए मुंशी जी अकसर टाँक लिया करते थे। अब अपने एकान्त क्षणों में वे उस सूत्र को किस

1. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास', संस्करण 2001, पृ. 257
2. अमृत राय—'कलम का सिपाही', प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ. 12

लिखने से हमारे लोग कतराते हैं। सभी उन्नत देशो मे यह विधा बहुत आगे बढ़ी हुई है, पर हमारी भाषा इसमे बिल्कुल कंगाल है। या तो हम जानते ही नहीं कि अच्छी जीवनी होती क्या है, या कुछ इस तरह गाँठ हमारे लिखने वालो के मन मे पड़ी हुई है कि जीवनी साहित्य की कोई सृजनात्मक विधा नहीं है- या फिर भय, कोरा भय, पथ की दुर्गमता का। जो भी बात हो, यह एक अटल सच्चाई है कि हमारे यहाँ जीवनियो का एक सिरे से अकाल है, जबकि योरप की जबानों में यह चीज आसमान पर पहुँची हुई है।[1]

अमृत राय[2] के शब्दों में, "कोई बड़ा साहित्यकार (योरप मे) नही है, कलाकार नही है, वैज्ञानिक नहीं है, जननायक नहीं है, जिसकी कई-कई जीवनियाँ, एक से एक अच्छी, न हो। स्टिफ़न ज्वाइग जितना अपनी कहानियो के बल पर ज़िन्दा रहेगा, उतना ही बाल्ज़ाक की अपनी जीवनी के बल पर ज़िन्दा रहेगा। आन्द्रे मोरुआ की लिखी हुई शेली की जीवनी 'एरियल' किसने नहीं पढ़ी? अर्विंग स्टोन की लिखी हुई वैन गो की जीवनी 'लस्ट फॉर लाइफ' किसने नही पढ़ी? एमिल लुडविग का नाम किसने नहीं सुना जो सिर्फ अपनी जीवनियों के बल पर योरप के साहित्य में अपनी एक खास जगह बनाये हुए है? हर साल सैकड़ों, हजारों की तादाद में जीवनियाँ निकलती आती हैं। एक ही आदमी की पच्चीसों जीवनियाँ मिल सकती हैं। अच्छी से अच्छी प्रतिभाएँ उनको लिखती हैं, पढ़नेवाले उपन्यासों से भी ज्यादा चाव से उनको पढ़ते हैं। लेकिन हमारा तो ढंग ही निराला है। हमारे यहाँ तो अभी बेचारी जीवनी अछूत की तरह ड्योढ़ी के उस पार खड़ी है- अन्दर आने की मनाही है।" वास्तव में हमारी विपुल साहित्यिक संपदा में जीवनी की अनुपस्थिति के सांस्कृतिक कारण हैं। पंकज चतुर्वेदी[3] के अनुसार "हिन्दू दर्शन में व्यक्तित्व की स्वतंत्रता अथवा अद्वितीयता को कोई महत्व प्राप्त नहीं है। मनुष्य के अस्तित्व को नश्वर माना जाता है चूँकि आत्मा ही वास्तविक है और सभी मनुष्यों मे समान है, इसलिए हिन्दू दार्शनिकों का तर्क है कि सारे मनुष्य अंततः एक हैं। वैयक्तिकता, आत्मवत्ता, अहं की चेतना या

---

1. अमृत राय—'कलम का सिपाही', प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ 9–10
2. वही पृ. – 10
3. पंकज चतुर्वेदी—'आत्मकथा की क्षीणकाय परम्परा'—'अभिप्राय'–26, पृ. 10–11

फिर विशिष्टता का बोध-इनको समग्रत. या एक-दूसरे के पयार्य के रूप मे 'माया' ही माना जा सकता है। अपने चिंतन की मौलिकता का दावा करना और अमरता की इच्छा करना-यो आत्म के वर्चस्व अथवा प्रत्यक्षीकरण के लगभग समस्त रूप निन्द्य हैं।''

यानी एक व्यक्ति की जिन्दगी के ब्यौरे, उसकी आदते, अतियाँ, मानसिकताएँ, भावनाएँ और घटनाओं के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ महत्वहीन मानी जाती रही और कभी लिखने अथवा दर्ज किये जाने के योग्य नही पायी गयी। इस जड़ मान्यता से रचनात्मक मुठभेड़ करते हुए अमृतराय ने स्वयं प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' लिखकर जीवनी साहित्य में एक सर्जनात्मक हस्तक्षेप किया। जागरूक कथाकार, सुधी प्रगतिशील आलोचक, निबंधकार और प्रेमचंद के प्रामाणिक जीवनीकार के रूप में अमृतराय के इस योगदान का अविस्मरणीय महत्व है।

'कलम का सिपाही' की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि एक लेखक पिता पर एक लेखक पुत्र द्वारा लिखी गयी पुस्तक है, "कोई चमक-दमक यहाँ नही है, न कोई नाटकीय तत्व, न कोई रोचक जीवन-प्रसंग, न प्रेम और साहस के वैसे कोई प्रकरण-नितान्त बँधा-टका जीवन एक गरीब स्कूल मास्टर का या वैसे ही गरीब लेखक सम्पादक का। फिर भी कुछ तो है जो विशेष है। वह क्या है? उसी को जीवन के सन्दर्भ में देख सकने और दिखा सकने में मुझको रचनाकार का सच्चा सुख मिला है।''[1]

कोई पुत्र यदि अपने पिता पर कोई पुस्तक लिखता है तो एक खतरा कृति के कम प्रामाणिक और तटस्थ होने का हो सकता है। इस खतरे से अपने को बचा पाने की परीक्षा में अमृत राय को अद्भुत सफलता मिली है। सच तो यह है कि 'कलम का सिपाही' प्रेमचंद के जीवन को जितनी अन्तरंगता के साथ चित्रित करती है उतनी ही तटस्थता के साथ विश्लेषित भी करती है। अमृत राय की अन्तर्निहित व्यक्तिगत वेदना और उनके सामाजिक सरोकार का सामंजस्य और पारस्परिक टकराव का सिलसिला ही इस जीवनी को सर्जनात्मक बनाए

1. अमृत राय—'कलम का सिपाही', प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ. 11

रखता है और यही कारण है कि जीवनी एक महाकाव्यात्मक और सर्जनात्मक विशालकाय उपन्यास का सा रूप ले लेती है। व्यक्तिगत वेदना और सामाजिक सरोकार के ये दोनो सूत्र पुस्तक की भूमिका से ही परस्पर उलझने-सुलझने लगते हैं, "लेकिन जब इसी पीड़ा और उद्वेग मे से अचानक यह गुर मेरे हाथ लगा कि इस व्यक्ति (प्रेमचंद) के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़कर देखो तब जैसे सारे बन्द दरवाजे यकबयक खुल गये और इस अतिसामान्य जीवन को एक नया आशय, नयी अर्थवत्ता मिल गयी।"[1]

वास्तव में अमृतराय ने जीवनी की रचना इस ढंग से की है कि प्रेमचंद की ज़िन्दगी अपने समय की उथ-पुथल का पैमाना बन गयी है। जीवनी के आरम्भ में ही सन् 1885 ई० के आस-पास के भारत का रोमांचक विवरण है। इसमे तिलक, गोखले, विवेकानन्द का समयबद्ध अंकन है। इनके प्रभाव से अभिभूत प्रेमचंद के अंतर्विरोधी व्यक्तित्व का तटस्थ चित्रण किया गया है। मैकाले और गाँधी की उक्तियों का इस संदर्भ में सटीक प्रयोग किया गया है। जीवनी में अधिकांश जगहों पर मुंशी दया नरायन निगम और मुंशी प्रेमचंद के बीच पत्र-व्यवहार का सर्जनात्मक उपयोग है।

कुल मिलाकर 'कलम का सिपाही' में अमृतराय ने उन मानवीय मूल्यों और उन सामाजिक सरोकारों को सम्प्रेषित किया है, जिनके लिए प्रेमचंद जिये, मरे और अमर हो गये। 'कलम का सिपाही' की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि यहाँ प्रेमचंद के व्यक्तितत्व को निरंतर व्यवधानों बाधाओं के बीच डूबते-उतराते और इस प्रकार विकसित होते हुए देखा जा सकता है, जबकि अन्य जीवनियों उदाहरणतः विष्णुप्रभाकर द्वारा शरत्चन्द्र पर और यहाँ तक कि डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा निराला पर लिखी गयी जीवनियों में हम प्रारम्भ से ही शरत् और निराला को एक विशिष्ट व्यक्ति (अथवा लेखक) के रूप में देखते हैं। लेकिन अमृत राय द्वारा लिखी गयी इस जीवनी में प्रेमचंद नाम का पात्र आरम्भ मे अति सामान्य व्यक्ति है, धीरे-धीरे लहरों के थपेड़े खाकर उसे विकसित होते हुए जीवन के रूप में चित्रित किया जा सका है।

1. अमृत राय—'कलम का सिपाही', प्रथम सस्करण की भूमिका, पृ 11

सच तो यह है कि प्रेमचंद हो, निराला हो या शरत्‌चंद्र, जन्म से कोई विशिष्ट नही होता। अपने देश और समाज से जुड़कर ही कोई व्यक्ति महत्वपूर्ण और सार्थक होता है, उसके बिना नही, फिर वह चाहे साहित्यकार हो या राजनेता। उदाहरणार्थ 'अवारा मसीहा' को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि शरत्‌ शुरू से ही 'आवारा' कम 'मसीहा' अधिक थे, लेकिन 'कलम का सिपाही' को पढ़ते समय ऐसा नही प्रतीत होता।

रामजी पांडेय[1] ने लिखा है कि अमृत राय की रचना 'कलम का सिपाही' इस बात का प्रमाण है कि कितना चाहते थे वे अपने पिता को। अन्यथा ऐसी रचना दे पाना संभव ही नहीं था। अमृत राय जैसा बेटा ही अपने पिता प्रेमचंद पर ऐसी किताब लिख सकता था।

लेकिन लक्ष्मीकांत वर्मा ऐसा नहीं मानते। लक्ष्मीकांत वर्मा[2] ने लिखा है, "श्री अमृतराय की पूरी साहित्यिक यात्रा पर जब विचार करता हूँ तो उसमें कई दिशाओं का संकेत मिलता है। उन्होंने एक युग प्रवर्तक साहित्यकार के बेटे होने के आरोप को अपने ऊपर सृजनशील या प्रक्षेपित होने नहीं दिया। कलम का सिपाही आप पढ़ जाइये तो यह पता नहीं चलेगा कि मुंशी प्रेमचंद के बेटे अमृत राय अपने पिता की जीवनी लिख रहे हैं। प्रत्येक वर्णन और विवरण में जो 'ऐस्थिटिक डिस्टेन्स' या लेखकीय निस्संगता मिलेगी। इसके विपरीत शिवरानी जी की पुस्तक 'प्रेमचंद घर में' पढ़िये तो प्रत्येक स्थल पर आपको लगेगा कि यह घटना मुंशी प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी लिख रही हैं। बातचीत में भी वह प्रेमचंद जी के विषय में हमेशा 'थर्ड पर्सन' के सम्बोधन का इस्तेमाल करते थे।"

इतना ही नहीं, जेम्स बास्वेल द्वारा लिखी हुई 'लाइफ ऑफ जान्सन' (1779-81) पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यह बात तो एक करीबी दोस्त ही लिख सकता है किन्तु 'कलम का सिपाही' की विशेषता है कि कहीं आभास ही नहीं मिलता कि इसका लेखक मुंशी प्रेमचंद का बेटा है।

1. रामजी पांडेय– 'उड गया धूप छाँह का हॅस,' हिन्दूस्तानी, भाग–57, अक–3–4, पृ – 201
2 लक्ष्मीकांत वर्मा—'संस्मरणाजति : श्री अमृत राय', हिन्दुस्तानी–भाग–57, अंक 3–4, पृ. 167

लक्ष्मीकांत वर्मा[1] ने लिखा है, "मैने जब एक बार पूछा कि क्या कभी ऐसे भावुक प्रसग नही आये जिनका संदर्भ आप बाप बेटे के रूप मे देते। बोले (अमृतराय), यार, मैं इस नास्टेलजिया से बचना चाहता था। जहाँ तक हो सका मैंने उसे बचाया है।"

अमृत राय की इस तटस्थता को उनकी शैली का अविभाज्य अंग बताते हुए लक्ष्मीकांत वर्मा[2] ने लिखा है, "हो सकता है कि कुछ लोग अमृत राय को इतना बड़ा लेखक न मानें और काल की क्रूर निरन्तरता में वह कही किनारे लग जायें लेकिन जब कभी उनकी यह कृति सौ दो सौ साल बाद भी पढ़ी जायगी तब इस तटस्थता को उनकी शैली का अविभाज्य अंग माना जायगा और इसके समानान्तर जब 'कलम का मजदूर' या हंसराज रहबर या कमल गोयनका की कृतियाँ पढ़ी जायेंगी तो अन्तर अपने आप पता चल जायगा। किसी भी लेखक की शैली यदि उसके व्यक्तित्व का परिचायक होती है तो निश्चय ही श्री अमृत राय की शैली उनके व्यक्तिव को पूरी तरह खोल कर रख देती है। विशेषता यह है कि अपनी इसी विलक्षण पहचान को उन्होने अन्त तक बनाये रखा है।" बाद में भी उन्होंने यही वक्तव्य दिया, "कलम का सिपाही का लेखक अब मुंशी जी को बहुत पीछे छोड़ आया है। बहुत कह चुका, बहुत लिख चुका- अब मुंशी जी पर बातें करने का मन नहीं होता"[3]

लेकिन अली अहमद फातमी द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या आपके लिए गौरव की बात नहीं कि आप हिन्दुस्तान के इतने बड़े अदीब के छोटे बेटे हैं? अमृत राय[4] ने कहा था, "क्यों नहीं भाई—मुंशी जी ने मुझे कलम पकड़ना सिखाया।"

परंतु अली अहमद फातमी के यह पूछने पर कि आपकी अपनी पहचान बनाने में मुंशी जी के नाम ने कोई मदद की? अमृत राय ने दो टूक शब्दों में कहा था, "तुम

1. वही, पृ. – 168
2. वही
3. अमृत राय—डॉ. अली अहमद फातमी को दिए इंटरव्यू में, हिन्दुस्तानी–भाग 57, अक 3–4, पृ –190
4. वही, पृ. 190–191

मदद कहते हो, इस नाम ने अदबी सतह पर मुझे बहुत नुकसान पहुँचाया है-...वह इस तरह कि मेरे हर काम को मुंशी जी के हवाले से देखा जाता, मेरा नावेल 'बीज' छपा, खासा मशहूर हुआ, लोगो ने पढ़ा और पसंद किया लेकिन आखिर में यह कहा गया- नावेल 'बीज' अच्छा तो है। लेकिन 'गोदान' से हल्का है- अब बताइये 'गोदान' और 'बीज' का मुकाबला क्यों-?...असली पहचान के लिए यह रिश्ता अज़ाब साबित हुआ-सच तो यह है कि बड़े बाप का बेटा होना एक अज़ाब है, एक उम्र लग जाती है बरगद के साये से निकलने मे।"[1]

अच्छी जीवनी उपन्यास का रूप ले लेती है। और फिर उपन्यासकार की जीवनी तो उपन्यास की शैली में अधिक उपयुक्त हो सकती है। इस दृष्टि से 'कलम का सिपाही' एक जीवनी ही नहीं अपने आप मे एक रोचक उपन्यास भी है। अमृतराय[2] ने स्वयं लिखा है, "यह भी एक उपन्यास ही है, जिसका नायक प्रेमचंद नाम का एक आदमी है, फर्क बस इतना ही है कि यह आदमी मेरे दिमाग की उपज नहीं है, हाड़-मांस का एक पुतला है जो इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडंडी पर अपने पैरों के कुछ निशान छोड़ गया है, उसको मारने-जिलाने की, जैसे मन चाहे तोड़ने-मरोड़ने की आजादी मुझे नहीं है...कितने ही मोटे-मोटे रस्सों से मैं अच्छी तरह (या बुरी तरह) खूँटे से बँधा हुआ हूँ...पूर्ण स्वच्छंदता उपन्यास की कहानी कहते समय भी नहीं रहती, वहाँ भी कहानी कहने वाला जीवन के खूँटे से, प्रतीति के खूँटे से बँधा ही रहता है।"

लेकिन रामविलास शर्मा[3] इससे असहमत होते हुए कहते हैं, "उपन्यास की तरह यह जीवनी सब जगह रोचक नहीं है। साढ़े छह सौ पृष्ठो की यह सामग्री तीन सौ पृष्ठों में मज़े से संक्षिप्त की जा सकती है।"

---

1. अमृत राय—डॉ. अली अहमद फातमी को दिए इटरव्यू में, हिन्दुस्तानी–भाग 57, अंक 3–4, पृ –191
2. अमृत राय—'कलम का सिपाही', प्रथम सस्करण की भूमिका, पृ 10–11
3. रामविलास शर्मा—'प्रेमचंद और उनका युग', पृ 194

हालांकि अमृतराय की पुस्तक 'कलम का सिपाही' की प्रशंसा मुक्त कंठ से की गयी, परतु रामविलास शर्मा[1] ने लिखा है, 'प्रेमचंद घर मे पढकर' प्रेमचंद के जीवन का ज्यादा गहरा चित्र मन पर उतरता है। यदि शिवरानी जी और जैनेन्द्र जी वाले संस्मरण 'कलम का सिपाही' से निकाल दिये जायें तो पता चले कि अमृत राय के अपने संस्मरण नही के बराबर हैं।'' हालांकि यह आरोप सच है कि इस जीवनी में स्वय अमृत राय के पिता के सम्बन्ध मे संस्मरण नही के बराबर हैं। लेकिन सवा सोलह आना सच यह है कि 15 वर्ष की अवस्था मे गुजरी बातें कितनी याद रखी जा सकती हैं? इस बात की स्वीकारोक्ति स्वयं अमृतराय[2] ने यो की है, ''प्रेमचंद का संस्मरण मैं क्या दूँ? मैं जान ही कितना पाया उस आदमी को? मेरी उम्र मुश्किल से पन्द्रह की रही होगी जब वह आदमी हमसे अलग हो गया। मैं तब इण्टरमीडिएट के पहले साल मे था। सन् 36 ई0 को अब सत्रह बरस होते हैं, बड़ी कच्ची उम्र थी। ईमानदारी की बात है कि मेरे पास वैसे कोई संस्मरण नहीं हैं जो शायद आप मुझसे सुनना चाहते हैं।

छोटे रूप में कहूँ तो यही कहना होगा कि मैं एक पिता के रूप मे ही देख पाया उन्हें और जितनी कुछ समझ थी उतना एक व्यक्ति के रूप में भी देखने की कोशिश की, यानी अब करता हूँ, स्मृतियों के सहारे।''

कथाकार मार्कण्डेय[3] ने लिखा है, ''उन्होंने अथक परिश्रम करके प्रेमचंद की जीवनी पर काम करना शुरू किया। जहाँ तक मुझे याद है उनके अनेक मित्रों में डॉ. महादेव साहा ने भी सामग्री-संचयन मे उनकी बड़ी सहायता की थी। ...लगातार परिश्रम के बाद जब 'कलम का सिपाही' छपकर सामने आयी तो जीवन में पहली बार उन्हें अपने अब तक के साहित्यिक कर्म की सार्थता का अनुभव हुआ। पुस्तक का सर्वत्र स्वागत हुआ और उसे साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। उन्हें लगा जैसे क्यों वे इतने लम्बे अर्से तक करणीय को पहचान न सके।''

1 वही, पृ. 183
2 अमृत राय, 'प्रेमचंद-स्मृति', हंस प्रकाशन, पृ 250
3 मार्कण्डेय, 'भाई अमृत राय कुछ यादें', 'हिन्दुस्तानी', भाग-57, अक-3-4, पृ. 177

'कलम का सिपाही' का आज भी कोई मुकाबला नहीं है। इसे अपनी साक्ष्य समृद्धि, सहज ईमानदारी, अभिव्यक्ति क्षमता और प्रेरक शैली के कारण प्रकाशन वर्ष के भीतर ही 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। खगेन्द्र ठाकुर[1] ने लिखा है- "अमृत जी ने प्रेमचंद की जीवन-कथा 'कलम का सिपाही' नाम से लिखकर एक सघर्षशील लेखक के सही स्वरूप को औपन्यासिक ढंग से लोगों के सामने रखा और हिंदी को गौरवान्वित किया। वे ऐसा कर सके इसलिए कि स्वयं एक सिपाही थे कलम के।"

(ख) प्रेमचंद की जीवनी के बहाने प्रगतिशीलता के सहज स्वरूप की पहचान

यह सच है कि अमृत राय की सर्वश्रेष्ठ कृति 'कलम का सिपाही' ही है जो कि प्रेमचंद की जीवनी है। डॉ. राजेन्द्र कुमार[2] के शब्दों में, "इस कृति को रचने में जिस दृष्टि-सम्पन्नता और भाषा के जिस नये रचाव की खोज अमृत जी ने की, वह हिन्दी के आधुनिक गद्य-लेखकों के बीच उनकी अलग पहचान बनाने में समर्थ है। इस कृति में अमृत जी की बुनियादी कोशिश यह रही है कि प्रेमचंद अपने युग के पूरे इतिहास-प्रवाह को मथती और अपने परिवेशगत अंतर्विरोधों में डूबती-तैरती और पार उतरने को अकुलाती ठेठ हिन्दुस्तानी संवेदना के साथ हमारे सामने आएँ।"

कारण कि प्रेमचंद जिस विचार-भूमि से समाज के भीतरी द्वन्द्व को देखते थे, वह साधारण खाते-पीते किसान की है। उनको जीवन-भर यह लालसा रही कि उनके पास अपनी जमीन हो और वह आजादी से खेती करके-या कराके-जिन्दगी बसर करे। लेकिन उनकी यह लालसा पूरी न हुई। जिन्दगी ने उन्हें देहात के सर्वहारा वर्ग के नज़दीक ला

1. खगेन्द्र ठाकुर, अमृत राय : अनोखा व्यक्तित्व, (अब · 21 अक्टूबर, 1997 ई0), पृ. 16
2. डॉ. राजेन्द्र कुमार—'अमृत राय : अपना विवेक ही जिनका सबसे अच्छा जीवन–सहचर था', 'हिन्दुस्तानी' भाग–57, अंक–3–4, पृ. 182

पटका। उनकी विचारधारा पर सर्वहारा वर्ग-न केवल देहाती, वरन् शहरी सर्वहारा वर्ग-की नयी चेतना का रंग भी चढ़ा हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा[1] के अनुसार, "उनका साहित्य-सृजन अधिकतर सोवियत क्रांति के बाद के युग मे हुआ जब हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर समाजवादी विचारधारा का गहरा असर पड़ा । किन्तु सन् '17 ई0 से पहले और बाद को उन्होंने जो साहित्य रचा, उसके सूत्र अलग न होकर आपस मे जुड़े हुए हैं। उन्होंने रूढ़िवाद के विरोध में अपना संघर्ष पहले ही आरम्भ कर दिया था; उस संघर्ष मे विकास हुआ किन्तु, उसका सूत्रपात सन् '17 ई0 से पहले ही हो चुका था।"

सच्चाई तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में अपना अलग और प्रायः निराला अस्तित्व रखता है। एक का कार्य-सम्पादन का ढंग भी दूसरे से भिन्न होता है। उसका अपना एक अलग स्थान है जिसका महत्त्व, जिसकी विशेषता और निरालापन संसार के अस्थायी और क्षणभंगुर स्वरूप में भी एक अमिट छाप रखते हैं। प्रत्येक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है। उस व्यक्तित्व का अध्ययन एक गूढ़ परन्तु रोचक विषय है। इसीलिए साहित्य की विवेचना करते हुए विलियम हेनरी हडसन ने लिखा है कि जीवन साहित्य का उद्गम स्थान है और व्यक्तिगत जीवन में विशेष रूप से साहित्य के गूढ़ तत्त्व ढूँढ़ें जा सकते हैं। इसीलिए जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी घनिष्ठता से सूत्र जोड़ते हुए अमृतराय ने प्रेमचंद के बारे में लिखा है कि कोई ताक़त जो खुद उससे बड़ी थी, उसका हाथ पकड़कर उसे सामाजिकता के उस रास्ते पर ले गई जिसे भविष्य में उसका अपना खास रास्ता बनना था।[2]

वस्तुतः अपनी सजग सामाजिकता में प्रेमचंद का स्थान भारतीय साहित्यकारों में अन्यतम है। समाज का कोई प्रश्न उनकी तेज नज़र से बचा नहीं है। कहानियों उपन्यासों में तो उनकी यह सामाजिकता बोली ही है, लेखों-टिप्पणियों के माध्यम को भी उन्होंने भरपूर इस्तेमाल किया है और सच तो यह है कि इनके बिना प्रेमचंद का संपूर्ण व्यक्तित्व हमारे

---

1. रामविलास शर्मा—'प्रेमचंद और उनका युग', पृ. 187
2 वही, पृ. 188

सामने नही आ सकता।[1]

प्रेमचंद के सामाजिक सरोकारो ने अमृत राय को यह प्रेरणा दी कि केवल 'जीवनी' लिखने भर से काम न चलेगा, क्योकि जीवनी तो बस एक पुस्तक में दर्ज हो जायेगी, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है, जिसे अलग से संकलित करने का स्थान रचना होगा। इसी प्रेरणा के तहत अमृत राय ने 'कलम का सिपाही' लिखने के पश्चात् 'विविध प्रसंग' नामक पुस्तक तीन खंडों में लिखकर प्रकाशित किया, और स्वयं ही इस पुस्तक को जीवनी का ही एक हिस्सा बताया। 'विविध प्रसंग-भाग-2' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "(मुशी जी ने) उपन्यास और कहानियाँ तो लिखी हीं, साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति से संबंध रखनेवाले विविध प्रसंगो पर ढेरों लेख भी लिखे। इस प्रकार के लेखन का उनका क्रम आजीवन चला और मुंशी जी के पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व और देन को समझने के लिए उसका महत्त्व मुंशी जी के कथा-साहित्य से अणुमात्र कम नहीं है।

इस खज़ाने की तरफ अब तक किसी का ध्यान नहीं गया था, और शायद इन पंक्तियो के लेखक का भी न जाता अगर मुंशी जी की प्रामाणिक जीवनी लिखने के तकाज़े ने उसे मजबूर न किया होता कि वह उन सब चीजो की छान-बीन करे जो-जो मुंशी जी ने जब-जब और जहाँ-जहाँ लिखीं। पुरातत्व विभाग की इसी खुदाई में यह दफ़ीना हाथ लग गया।"[2]

इसी पुस्तक की 'भूमिका' के समापन मे उन्होंने यह भी लिखा है, "इस लंबे शोध-कार्य में, जिसका सूत्रपात जीवनी लेखन से हुआ, भाई महादेव-साहा की निरंतर प्रेरणा का मैं कितना ऋणी हूँ, इसकी स्वीकृति शब्दों से नहीं, मौन से ही की जा सकती है।"[3]

इस वक्तव्य में-यह वाक्य कि-'इस लंबे, शोध-कार्य में, जिसका सूत्रपात जीवनी लेखन से हुआ'-प्रकारांतर से द्योतित कराता है कि 'विविध प्रसंग' भी जीवनी का ही एक हिस्सा है।

1. अमृत राय, 'विविध प्रसंग—भाग–2' के फ्लैप पर
2. अमृत राय, विविध प्रसंग—भाग–2, भूमिका, पृ 5
3. वही, पृ. 7

'कलम का सिपाही' जैसी कृति लिखने वाले लेखक अमृत राय की तटस्थता का ही तकाजा है कि वे इतने बड़े लेखक के जीवन को 'अतिसामान्य जीवन' कहकर पाठको से उसका परिचय कराते हैं, परंतु उनके सामाजिक सरोकारो का यह तकाजा है कि वे प्रारम्भ मे ही अपने पाठकों को प्रेमचंद के जीवन से हासिल की गयी इस उपलब्धि से भी वंचित रहने देना नहीं चाहते कि कोई भी अति सामान्य जीवन एक नये आशय और एक नयी अर्थवत्ता को पा लेता है बशर्ते कि वह अपने देश और समाज के जीवन से जुड़ जाता हो। अमृत राय द्वारा लिखी गयी यह जीवनी इसलिए भी एक विशिष्ट महत्त्व की कृति बन गयी है, क्योकि यह प्रेमचंद की जीवनी को अपने देश और अपने समाज की संजीवनी की एक इकाई के रूप में विवेचित करती है। जाहिर है कि प्रेमचंद की यह जीवनी अपने युग, अपने परिप्रेक्ष्य, अपने देश और अपने समाज की गाथा बन गयी है।

एक कुशल जीवनीकार की तरह अमृतराय समस्त उपलब्ध सामग्री को पाठको के सामने अपनी अर्थगर्भी और निष्कर्ष व्यंजक टिप्पणियो द्वारा इस तरह पेश करते हैं कि कहीं भी पाठक की सहज बुद्धि को झटका नहीं लगता। एक प्रखर टिप्पणीकार के रूप में अमृतराय की पिता के प्रति ममत्व भरी संवेदना, एक पुत्र के रूप मे उनकी निजी वेदना, समाज के प्रति गहरा और व्यापक सरोकार, जागरूक विवेक-दृष्टि और सर्जनात्मक गद्य का बहा ले जाने वाला प्रवाह-ये सभी गुण एक साथ मिलकर एक ऐसी नयी विशेषता उत्पन्न कर देते हैं कि उसे पढ़कर ही जाना-पहचाना जा सकता है। प्रेमचंद की माँ का देहांत होने पर अमृत राय[1] टिप्पणी करते हैं, "नवाब के आठवें साल में वह चल बसी और उसी दिन नवाब जिसे माँ पान के पत्ते की तरह फेरती थी, डिठोना लगाकर घर से निकलने देती थी और आँचल में छिपाये फिरती थी, कभी सर्दी से कभी गर्मी से और कभी सिहाने वालों की डीठ से, देखते-देखते सयाना हो गया...नवाब की दुनिया घर के नाते सूनी हो गयी...सूनी दुनिया में बराबर कौन रह सकता है। जिन्दगी खुद उसे भरने का उपाय कर देती है जैसे कि हर घाव वह भर देती है।"

1. अमृत राय, कलम का सिपाही, हस प्रकाशन, पृ 23

नवाब, प्रेमचद के बचपन का पुकारू नाम है। इस संपूर्ण कारूणिक प्रसंग को भावमयता के साथ उद्धृत करने के तुरन्त बाद अमृत राय अश्रुप्लावित भावुकता का परिचय नही देते जैसी कि ऐसे मार्मान्तक प्रसंगो के चित्रण मे आशंका रहती है। जब जागरूक विवेक और सामाजिक सरोकार होता है तो दुनिया कभी सूनी नहीं होती और जिन्दगी खुद उसे भरने का उपाय कर देती है जैसे कि हर घाव भर देती है।

ऐसा ही एक और मार्मिक प्रसंग प्रेमचंद की अंतिम जीवन-यात्रा का है। चूँकि अमृतराय प्रेमचंद के आत्मज हैं इसलिए ऐसे प्रसंग के चित्रण में मर्मव्यथा छिप नहीं सकती, प्रकट होकर रहेगी, तथापि सामाजिक सरोकार भी यहाँ व्यँजित होता है आरोपित या प्रदर्शित रूप में नहीं, अंतर्निहित और स्वतः स्फूर्त रूप में, सायास नहीं, बिल्कुल अनायास–"जहाँ मन में इतने गहरे विश्वास का पाथेय हो, वहाँ यात्रा से फिर भय कैसा? जन्म भर के यात्री भीरू प्रेमचंद को अपनी इस यात्रा से तनिक भय नहीं लग रहा है।

भय तो उनके लिए है, जिन्हें छोड़कर वह जा रहे हैं। युद्ध की छाया गहरी होती जा रही है।"[1]

निजी और पारिवारिक प्रसंगों के चित्रण मे अमृतराय ने जिस तटस्थता का परिचय दिया है, वह उस तटस्थता से भिन्न कोटि की है, जिसका परिचय आत्म-मुग्ध और व्यक्तिवादी लेखक अकसर दिया करते हैं। इसके लिए वह प्रसंग द्रष्टव्य है, जिसमें प्रेमचंद की पुत्री कमला को पुत्र होता है और साथ ही प्रसूति ज्वर हो जाता है। शिवरानी देवी उसे अपने साथ वाराणसी लाना चाहती हैं। जब मुंशी जी को यह पता चलता है, तो वह चिट्ठी लिखते हैं, "हाँ अगर लखनऊ चलकर दवा कराने का इरादा हो तो ठीक है...लखनऊ ले चलने का अर्थ है पाँच सौ रुपये महीने का खर्च उठाना जिसकी सामर्थ्य न मुझमें है, न उन लोगों में।"[2]

---

1. कलम का सिपाही, अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 645
2 वही, पृ. – 522

ध्यातव्य है कि यह तटस्थता अपने प्रति और अपनो के प्रति निर्ममता बरतती है, लेकिन समाज के प्रति पक्षधरता का रवैया अपनाती है।

यह सत्य है कि अमृतराय प्रेमचंद के पुत्र होकर भी तटस्थ रहकर जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इसका यह आशय निकालना उचित नहीं है कि अमृतराय के मन में अपने महान् पिता के प्रति कोई प्यार, कोई दर्द नही था। सवा सोलह आना सच यह है कि अमृतराय की शैली मे उक्त तटस्थता को बरकरार रखती हुई एक छटपटाहट है, एक तड़प है, जो बहुत धीमे से शांत और संजीदा ढंग से निश्चल, निश्छल और शिशुवत् लहजे में अपना प्यार, अपना दर्द बताती तो नहीं, लेकिन व्यंजित अवश्य कर देती है।

मर्मस्पर्शी प्रसंगो के चित्रण में अमृतराय कलात्मक सूझ का परिचय देते हैं। वह बताते हैं कि माँ की मृत्यु प्रेमचंद को अंदर तक हिला गयी थी। उससे प्रेमचंद जीवन भर उबर नहीं पाए, यही कारण था कि वह बार-बार ऐसे पात्रों का सृजन करते हैं, जिनकी माँ सात-आठ वर्ष मे गुजर जाती हैं।

इस जीवनी की भाषा पर दृष्टिपात करने से ज्ञात जोता है कि यह इफरात, मुदर्रिस, तुफैल, दिलबस्तगी,दबदबा, तनख्वाह, तालीम, इब्तदाई जैसे आम फहम उर्दू शब्दों से युक्त है साथ ही, बोरिया-बकचा, लस्टम-पस्टम, सटर-पटर, यकबयक जैसे बोलचाल के देशज और स्थानीय शब्दों से समृद्ध है। सचमुच, चह भाषा प्रेमचंद की हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी की याद दिला देती है।

जीवनी के अंतिम प्रसंग से भाषा की सहजता स्पष्ट होती है, जब प्रेमचंद की मृत्यु हो जाती है—

"लमही खबर पहुँची। बिरादरी वाले जुटने लगे। अर्थी बनी। ग्यारह बजते-बजते बीस-पच्चीस लोग गुमनाम आदमी की लाश लेकर मणिकर्णिका की ओर चले। रास्ते में एक राह-चलते ने दूसरे से पूछा-'के रहल?'

दूसरे ने जवाब दिया, "कोई मास्टर था"[1]

कुल मिलाकर यह कहना समीचीन होगा कि लेखक ने अपने चरितनायक की जिन्दगी को एक तरफ जहाँ भाव प्रवण भोक्ता की हैसियत से देखा है, वहीं वह दूसरी तरफ तटस्थ द्रष्टा की भूमिका का निर्वाह भी कर सका है। यही कारण है कि वह नवाब राय, धनपतराय आदि विभिन्न नामों से पुकारे जाने वाले व्यक्ति को तृतीय पुरुष, एकवचन में जहाँ-तहाँ संकेतित करता है।

मिसाल के तौर पर अमृत राय[2] ने प्रेमचंद के बारे में लिखा है कि कोई विशेषता जो नही है उसमें। अपने आस-पास ऐसा एक भी चिन्ह वह नहीं रखना चाहता जिससे पता चले कि वह दूसरे साधारण जनों से जरा भी अलग है। कोई तिलक-त्रिपुण्ड से अपने विशेषत्व की घोषणा करता है, कोई रेशम के कुर्ते और उत्तरीय के बीच से झाँकनेवाले अपने ऐश्वर्य से, कोई अपनी साज-सज्जा के अनोखेपन से, कोई अपनी किसी खास अदा या ढब से, यहाँ तक कि एक यत्न-साधित, सतर्क सरलता भी होती है जो स्वयं एक प्रदर्शन या आडम्बर बन जाती है, शायद सबसे अधिक विरक्तिकर–देखो इतना बड़ा इतना नामी आदमी होकर मैं कितनी सादगी से रहता हूँ! प्रेमचंद की सरलता सहज है। उसमें कुछ तो इस देश की पुरानी मिट्टी का संस्कार है, कुछ उसका नैसर्गिक शील है, संकोच है, कुछ उसकी गहरी जीवनदृष्टि है और कुछ उसका सच्चा आत्मगौरव है जो किसी तरह के आत्म-प्रदर्शन या विज्ञापन को उसके नजदीक घटिया बना देता है। नहीं, वह कस्तूरी मृग नही है जिसे अपने भीतर की कस्तूरी का पता न हो। उसे पता है कि उसके भीतर ऐसा भी कुछ है जो मूल्यवान है, उसका अपना है, नितान्त अपना, मौलिक, विशेष। वही उसका मोती है, मानिक है। कोई इस मोती-मानिक को उसके उपयुक्त रत्नजटित-मंजूषा में रखता है, यह आदमी उसे टीन के बकस में रखता है–इसलिए नहीं कि वह उसकी क़दर कम करता है बल्कि इसलिए कि बहुत ज्यादा करता है। टीन के बकस में

1. कलम का सिपाही, अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 16
2 वही, पृ. 2–3

वह मोती ज्यादा सुरक्षित है।...इसीलिए तो उटगी धोती और मैली-सी एक फतुही पहने, तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरखाने मे बैठा हुआ-सा, टीन के बकस मे अपना वह मोती जतन से छिपाये वह इतनी बेफ़िक्री से आगे-पीछे, दाये-बाये, सबका नाम-गाम पूछता है, उनके सुख-दुख, हारी-बेगारी, सूखे-बूड़े, रोजी-रोजगार की बाते करता है और कोई हँसी की बात हो तो इतने जोर से ठहाका लगाता है कि आस-पास बैठे हुए लोग चौंक पड़ते हैं और दीवारे हिल जाती हैं। शायद उसकी इस बेलौस हँसी मे कहीं एक हल्की-सी चुहल भी छिपी हुई है...कोई भाँप भी नही सका कि मेरे पास इस टीन के बकस मे ऐसा एक मोती भी था जिससे दुनिया खरीदी जा सकती थी।

...जिस नितान्त साधारण, बँधी-टकी दिनचर्या से उसकी ज़िन्दगी का साँचा बना था उसको देखते हुए शायद उस मोती के पानी को, उसकी चमक को बराबर बनाये रखने का दूसरा कोई उपाय भी न था। यह गहरी निश्छल सादगी शायद एक कवच थी जो प्रकृति ने स्वयं उसको बनाकर दिया था ताकि उस मोती की चमक कभी मन्द न हो– वैसे ही जैसे बादाम की मीठी गिरी को बनाये रखने के लिए उस पर एक कड़ा खोल चढ़ाना पड़ा।

अमृतराय द्वारा प्रेमचंद के जीवन पर प्रकाश डालने का यह अंदाज बिल्कुल सहज और सामान्य है तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है, क्योंकि सादे आदमी का इतना सादगीपूर्ण वर्णन अमृतराय ही कर सकते हैं। वह भी तब, जब चरितनायक (प्रेमचंद) ने स्वयं आगाह कर रखा हो–"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमे कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलो, गहरी घाटियों और खँडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौक़ीन हैं उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।"[1]

सचमुच बिल्कुल सपाट, समतल ज़िन्दगी है, वैसी ही जैसी देश के करोड़ों लोग जीते हैं। अमृतराय[2] के शब्दों मे, "एक सीधा-सादा, गृहस्थी के पचड़ो मे फँसा हुआ,

1. प्रेमचंद, 'कलम का सिपाही' में अमृत राय द्वारा उद्धृत, पृ. 4
2. अमृत राय, कलम का सिपाही, हस प्रकाशन, पृ 4

तगदस्त मुदर्रिस, जो सारी ज़िन्दगी कलम घिसता रहा, इस उम्मीद मे कि कुछ आसूदा हो सकेगा मगर न हो सका।" भला हो भी कैसे? यो साहित्य-सृजन केवल यश की कामना से भी किया जा सकता है, पर साहित्यिक-जीवन के तमाम कष्ट भोगने के पीछे कोई बड़ी मनुष्यता ही कारण होती है। इन बातो को प्रेमचंद[1] ने अपने जाने-पहचाने सरल, किन्तु गंभीर मार्मिक लहजे मे नंद दुलारे वाजपेयी को लिखा था, "...साहित्यकारों को आत्म-विज्ञापन नही करना चाहिए, यह सभी के लिए निंद्य है और साहित्यिक प्राणियो के लिए और भी अधिक।"

प्रेमचंद ने अपने जीवन को सपाट और समतल इसलिए भी बताया कि उनके मुताबिक– "अपने लिए तो जानवर भी जी लेता है, जो दूसरों के लिए जिये वही असल आदमी है। करोड़पति मर जाता है, कुत्ता भी नहीं भूँकता। और जिन्दगी भर चीथड़ा लगाकर घूमनेवाले सच्चे वैरागी की समाधि पर लोग सिजदे करते हैं, फूल और बताशे चढ़ाते हैं। दुनिया अपने ऊपर की गयी भलाई को कभी नहीं भूलती और फिर यह तो किसी पर भलाई करने की बात नहीं है, जिस मिट्टी में मेरा जन्म हुआ उसका झाड़-झंखाड़ साफ करने की जिम्मेदारी मेरी भी तो है।"[2]

चित्र में जिस प्रकार प्रकाश और छाया भाग का उचित सम्मिश्रण आवश्यक है उसी प्रकार चरित्र-चित्रण में ख़ूबियों के साथ-साथ कमजोरियों का भी ज़िक्र आना जरूरी है। अमृत राय ने सहज स्वाभाविकता के साथ प्रेमचंद की त्रुटियों का उल्लेख किया है। साथ ही उन पर किये गये आक्षेपों का भी बेधड़क उल्लेख किया है।

लेकिन रामविलास शर्मा[3] ने इस बात पर चिन्ता व्यक्त की है कि अमृतराय ने प्रेमचंद पर किये गये आक्षेपों का उल्लेख काफी विस्तार से किया है। उनके समर्थन में प्रकाशित होने वाले लेखों का हवाला बहुत ही कम है। इससे यह गलत तस्वीर सामने आती है

1. प्रेमचंद, 'अभिप्राय'—26, पृ. 13
2. प्रेमचंद, 'कलम का सिपाही' में अमृत राय द्वारा उद्धृत, पृ. 50
3. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ 182

कि प्रेमचंद का विरोध बहुत ज्यादा था, समर्थन बहुत कम।

रामविलास शर्मा[1] ने यहाँ तक लिखा है, "अमृतराय ने उनके व्यक्तित्व और साहित्य को बहुत सरल और समतल बनाकर पेश किया है। हर आदमी में अन्तर्विरोध होते हैं। अन्तर्विरोध न हो तो उसका व्यक्तित्व गतिशील न होकर स्थिर और जड़ हो जाये। जब अन्तर्विरोध एक हद तक सन्तुलित रहते हैं तब वे गतिशीलता प्रदान करते हैं; जब उनका असन्तुलन सीमा पार कर जाता है, तब व्यक्तित्व भीतर से टूट जाता है। व्यक्तित्व की पेचीदगियों को भुलाकर अमृतराय कुछ मोटे सूत्रो को बार-बार दोहराकर अति सरल चित्र प्रस्तुत करते हैं जो यथार्थ से दूर है।"

रामविलास शर्मा ने अमृतराय की प्रगतिशील दृष्टि पर सवाल खड़ा किया है। रामविलास शर्मा[2] के अनुसार प्रेमचंद-साहित्य मे किसानों की टक्कर अंग्रेज़ी राज से कम होती है। उनकी सीधी टक्कर होती है महाजनो, सूदखोरों, जमींदारों और पण्डे-पुरोहितों से। अंग्रेजी राज इनके सहायक के रूप में सामने आता है। लेकिन अमृतराय ने सामाजिक परिवेश का चित्रण करने में राजनीतिक आंदोलनों–साम्राज्यवाद से उच्च और मध्यवर्गीय जनता के उतार-चढ़ाव वाले संघर्ष–का वर्णन किया है, अंग्रेजों की छत्रछाया में पलने वाले सामन्तवाद का हवाला देना आवश्यक नही समझा।

कई जगह अमृत राय ने अपनी सौतेली माँ का जिक्र किया है। देखते ही शक्ल से नफ़रत हो गयी-भद्दी, थुलथुल, फूहड़। इतना ही नहीं, उनके चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे दाग थे और एक टाँग कुछ छोटी थी जिसके कारण गरीब को भचक कर चलना पड़ता था। महीने में एकाध बार हहुआती भी जरूर थीं, जब उन पर भूत-प्रेत आते थे। सुनते हैं दिमाग मे कुछ ख़लल भी था, क्योंकि लड़ाई होने पर अपने पति से कहती थीं, "हम तुम्हें गदहा छानने के पगहे से बँधवाकर मँगा लेंगे। ऐसे-ऐसे जादू-टोने हैं हमारे पास।"

1. वही
2 वही, पृ 187

लेकिन अमृत राय द्वारा की गयी इस तरह की टिप्पणियो से उनकी प्रगतिशीलता पर संदेह किया जाता है। रामविलास शर्मा[1] ने लिखा है, "जायसी के मुँह पर भी चेचक के दाग थे। हँसनेवाले से उन्होने कहा था, 'मुझ पर हँसता है या कुम्हार पर।' भद्दी और थुलथुल देह डॉ. जानसन की थी। जादू-टोने पर यक़ीन करने के कारण अंग्रेजी गद्य के अन्यतम लेखक टामस ब्राउन ने बूढ़ी स्त्रियों को डायन होने के अपराध मे जिन्दा जलवा दिया था। उनसे तो यह प्रेमचंद की परित्यक्ता परिणीता भली थी; पगहा से बँधवा मँगाने की धमकी ही तो देती थी। पाँव छोटा था। बायरन और पोप भी थोड़ा-सा लँगड़ाते थे। दिमाग मे खलल? बहुत से लेखकों के रहा है।"

जो भी हो इतना तो तय है कि इस जीवनी में अमृत राय ने जहाँ तक सम्भव हुआ प्रेमचंद को प्रेमचंद की भाषा मे उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। चिट्ठी-पत्रियों का उपयोग होने से सीधे प्रेमचंद हमारे सामने अवतरित होते हैं। साथ ही शिवरानी देवी का चरित्र भी उभर कर आया है।

और तो और प्रेमचंद के उपन्यासो को समझने में जीवनी बहुत उपयोगी है, क्योकि प्रेमचंद के विचारो को उपन्यासों में कैसे वाणी मिली है, इसका प्रस्फुटन जीवनी में है।

❋ ❋ ❋

1 रामविलास शर्मा, 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ 184

पाँचवाँ अध्याय

अमृत राय का 'सहज कहानी' संबंधी प्रत्यय

(क) 'नई कहानियाँ' का संपादन और 'सहज-कहानी' संबंधी प्रत्यय की प्रस्तुति

(ख) 'सहज कहानी' संबंधी दृष्टिकोण के प्रगतिशील आधार

'सहज कहानी' नयी कहानी की प्रतिक्रिया मे उपजी अमृतराय की खोज है। सन् 1968 ई0 में 'नयी कहानियाँ' पत्रिका का स्वामित्व अमृतराय ने राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से खरीद लिया और अपने संपादन मे इसे इलाहाबाद से प्रकाशित करने लगे। इस पत्रिका का संपादकीय 'सहज कहानी' शीर्षक के अंतर्गत वे लिखने लगे तथा ऐसा लगा कि वे सहज कहांनी नाम से एक नया सूत्रपात करने जा रहे हैं। 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' नामक पुस्तक मे दिए गए उनके वक्तव्यो से स्पष्ट होता है कि नयी कहानी की असमर्थताओं ने उन्हे 'सहज कहानी' की अवधारणा बनाने पर विवश किया। उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'सहज कहानी' से उनका तात्पर्य हितोपदेश, जातक या मोपासाँ और चेखव आदि की कहानियों से अलग उस मूल कथा-रस से है जो कहानी की अपनी खास चीज़ है और जो बहुत सी नयी कही जाने वाली कहानियो में एक सिरे से नहीं मिलता। यह रस किस्सा कहने सुनने की आदिम भूख से जुड़ा हुआ है। यह भूख जिससे मिटती है वह है कहानी का रस, सहज कथा रस। इसलिए अमृतराय कहते हैं कि अपनी सहज अनुभूति को सहज ढंग से कह पाना ही साहित्य की वह कीमियागिरी है जिससे कहानी मे प्राण का संचार होता है। सहजता की व्याख्या करते हुए अमृतराय ने लिखा है कि सहज वह है जिसमे आडम्बर नहीं है, ओढ़ा हुआ मैनरिज़्म या मुद्रादोष नहीं है।

'सहज कहानी' एक व्यापक आंदोलन नही बन सकी, लेकिन नयी कहानी की कलात्मक रूप-संरचना एवं अकहानीवादियो की यौन अतिरंजना के खिलाफ एक विद्रोही आवाज़ के रूप में अपना महत्त्व रखती है।

(क) 'नई कहानियाँ' का संपादन और 'सहज-कहानी' संबंधी प्रत्यय की प्रस्तुति

राजकमल प्रकाशन ने जब 'नई कहानियाँ' पत्रिका को बंद करने का फैसला किया तो अमृतराय ने उसे प्रकाशित किए रखने का बीड़ा उठाया और अनेक वर्षो तक उसे हिन्दी की एक लोकप्रिय पत्रिका के रूप मे जीवित रखा।

'नई कहानियाँ' के सम्पादन काल के दौरान उन्होंने 'सहज कहानी' आंदोलन का सूत्रपात किया और कई उगते हुए अंकुरों को पल्लवित, पुष्पित होने का अवसर दिया।

ध्यातव्य है कि सातवें दशक में हिन्दी कहानी के संदर्भ में संत्रास और सेक्स को फैशन बनाकर लिखा और चर्चित किया जा रहा था। विदेशी साहित्य का प्रभाव इतना नहीं था, जितना कि उनकी नकल की जा रही थी। अमृत राय ने 'नई कहानियाँ' के माध्यम से 'सहज कहानी' संबंधी प्रत्यय का सृजन कर यह स्पष्ट किया कि हमारी स्थापनाओं, जीवन-दृष्टि और परिवेश-विश्लेषण का आधार हमारे द्वारा देखा-भोगा हुआ जीवन होना चाहिए, विदेशी साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ जीवन-दर्शन नहीं। इस प्रकार अमृतराय ने हिन्दी कहानी की स्वस्थ परम्परा को आगे बढ़ाया और सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भो पर लिखे गये लेखन को प्रोत्साहित करते हुए उन्हें भोगे हुए जीवन के परिप्रेक्ष्य में स्वीकारा। उन्होंने मत व्यक्त किया कि निषेध अगर जीवनावस्था से लैस नही है, तो महज नारों की भीड़ बनकर रह जाएगा। देशकाल के संदर्भ से कटी हुई छद्म आधुनिकता का विरोध किया। अमृत राय[1] ने आज की कहानी पर अपने विचार रखते हुए कहा है–"आज की कहानी-परियों की कहानी नही रह गयी है और न उसमें केवल 'यथार्थ का पुट' रहता है, जैसा पुराने खेमे के आलोचक भूल से कहा करते हैं। वह यथार्थ से अभिषिक्त है उसी मे उसका उदय और अस्त है।"

यह सच्चाई है कि 'नयी कहानी' के आंदोलन की उपलब्धियों का लेखा-जोखा इतिहास अपने समय से निश्चत ही करेगा लेकिन इतना तो साफ है कि 'नयी कहानी' की खोज में सहज कहानी खो गयी।

अमृत राय[2] ने सहज कहानी का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सहज कहानी से हमारा अभिप्राय किसी खास लेखन-शैली की कहानी से नही है-न हितोपदेश की सांसारिक उपदेश-मूलक कहानियो से और न जातक की अध्यात्मिक बोध-मूलक कहानियों

1. अमृत राय, 'नयी समीक्षा', हंस प्रकाशन, पृ. 43

2 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हस प्रकाशन, पृ 93

से, और न उन कहानियो से जिनमे विशुद्ध कल्पना का रस है जैसे किस्सा अलिफलैला, ऐडरसन की परी-कहानियाँ, मिथक और पुराण कथाएँ।...और न ही आधुनिक गल्प-विधा के उन महान् कहानीकारों चेखोव और मोपासाँ और ओ. हेनरी से...और न उससे हमारा अभिप्राय शरत्चंद्र की गाँव के परिवेश-वाली मार्मिक प्रेम-कथाओं से है, न रवीन्द्रनाथ की कविकल्पना की सघनतर अंतर्दृष्टि से संवलित सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कहानी से, जिसकी मानवी संवेदना का मूल उपादान कवि की सौन्दर्यदृष्टि है और मूल स्वर किसी अज्ञात कुहा-लोक के हठात् उद्घाटित हो जाने का पुलकित विस्मय।''

लेकिन इसका मतलब यह न निकालना चाहिए कि अमृत राय के सहज कहानी संबंधी प्रत्यय का संबंध प्रेमचंद की कहानियो से है। इस संशय का निराकरण अमृत राय[1] ने स्वयं किया है, ''सहज कहानी से हमारा अभिप्राय...प्रेमचंद की कहानी से नही है, जिसका मूल स्वर सामाजिकता का है और जो अपनी उसी सामाजिक अंतर्दृष्टि से व्यक्ति को, परिवार को, सामान्य जीवन-व्यापार को देखती है और शायद इसीलिए हर पाठक को इतनी अधिक अपनी लगती है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि सहज कहानी से अभिप्राय किसी खास लेखन शैली की कहानी से नहीं है। अमृत राय[2] के अनुसार, ''सहज कहानी से हमारा अभिप्राय उस मूल कथा-रस से है जो कहानी की अपनी खास चीज है और जो बहुत सी 'नयी' कही जानेवाली कहानियों में एक सिरे से नही मिलता। किस्सा कहने-सुनने की आदिम भूख में से ही कहानी का जनम हुआ है और इस जन्मजात गुण या स्वभाव की रक्षा करके ही वह जीवित रह सकती है।''

अमृत राय[3] कथा रस की सहजता की चर्चा करते हुए कहते हैं, ''कहानी पढ़नेवाले को इससे बहस नहीं कि आपने 'नयी कहानी' लिखी है या 'अ-कहानी' लिखी है।

---

1 वही

2. अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ. 93

3 वही, पृ 94

जो मन चाहे लिखिए, पूरी छूट है आपको पर वह कथा-रस दीजिए जो पाठक कहानी से पाना चाहता है, जिसको पाने का वह न सिर्फ आदी है, बल्कि जो उसकी घुट्टी में और उससे भी आगे बढ़कर उसके खमीर मे दाखिल है।"

अमृत राय[1] का विचार है कि जिस कहानी मे सहज कथा रस नहीं होता, वह कहानी लोकप्रिय नहीं हो सकती और न साहित्यिक प्रतिष्ठा ही पा सकती है। जरूरत इस बात की है कि कहानीकार ऐसी कहानी लिखे जिसमे व्यक्ति की अपनी सहजता हो, परंतु आज की काहानियो में ऊब और कुण्ठा अधिक है। इसका कारण यह है कि कहानीकार सहज होकर नही लिख पा रहा है। दबावों में पड़कर अपने जीवन को खुली आँखों से न देखकर रंगीन चश्मे से देख रहा है, "सहज कहानी की चर्चा करके हम अपने लिखने वालो से यही कहना चाहते हैं कि अपने भीतर पैठकर अपने मन की सच्ची प्रेरणा से लिखिए, रचना अच्छी उतरी या नही उतरी, इसकी सनद के लिए अपने बाहर इस पंडे और उस पुरोहित की ओर नही अपने भीतर देखिए, अध्ययन-मनन से आप अपने भीतर स्वयं एक ऐसे आलोचक का निर्माण कर लेंगे, जो आपको बता देगा कि आपकी चीज जैसी बननी चाहिए थी, बनी या नहीं बनी। सहज कहानी की चर्चा से हमारा यही मतलब है कि हर आदमी मौलिक है, विशिष्ट है, उसने जो कुछ देखा है, सहा है, उसका अपना विशिष्ट मूल्य है। जिस भी रचना पर उसकी अपनी अनुभूति और संवेदना का स्वाक्षर है, वह साहित्य के लिए मूल्यवान है, अगर उसे अपने अनुरूप शिल्प भी मिल सका है।"

सर्वविदित है कि सन् 1960 ई0 तक आते-आते 'नयी कहानी' पुरानी पड़ गई और रूढ़िग्रस्त हो गई। नये कहानीकार अपने साथ नयी समस्याएँ लेकर आए, जिसके फलस्वरूप नयी कहानी पर प्रश्नसूचक चिह्न लगने लगे। उन प्रश्नो का सही-सही उत्तर न दे सकने के कारण 'नयी कहानी' टूटने लगी और वह ज़िन्दगी के साथ समझौता

---

1 वही, पृ 110

करने और व्यक्तिगत सत्य प्रकट करने पर उतारू हो गई। उसकी संवेदनशीलता स्थिर होकर रूढ होने लगी। वह ज़िन्दगी के सत्य से कटने लगी। लेखक आत्मग्रही हो गए और उनकी रचनाओ में उनकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ विरूपता के साथ प्रकट होने लगी। अपने दिए हुए फतवो के जाल मे लेखक फँस गया।

इतना ही नहीं, सातवें दशक मे देश ने दो-दो प्रधानमंत्रियों को खोया। इसी दशक मे दो युद्धों का सामना करने के फलस्वरूप तीव्र गति से बढ़ती मुद्रास्फीति, महँगाई, बेरोजगारी और भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन आदि से चारो ओर निराशा के बादल मँडराने लगे। प्रगति में गतिरोध पैदा हुआ और युवा वर्ग का आक्रोश किसी न किसी आन्दोलन से सम्बद्ध होकर स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। कल्पना-लोक में विचरना अथवा कोरी आदर्शवादिता को छोड़ युगीन यथार्थ को पहचानने की क्षमता पुनः जाग्रत हुई। इन परिस्थितियों का प्रभाव सातवें दशक की कहानी पर पडना अनिवार्य था। इसी अनिवार्यता की परिणति 'सहज कहानी' है, जिसका उद्‌भव सन् 1968 ई0 में हुआ।

ऐसे मे 'सहज कहानी' की चर्चा से पाठको और नये कहानिकारों दोनों ही में एक नयी स्फूर्ति का संचार हुआ। अमृत राय[1] ने लिखा है, "हमें इस बात की बड़ी खुशी है कि हमारी सहज कहानी की चर्चा ने कहानी-पाठको और नये कहानीकारों दोनों ही में एक नयी स्फूर्ति का संचार किया है।...स्वभावतः उनमें कुछ जिज्ञासाएँ भी हैं, शंकाएँ भी हैं। जैसे कि गोरखपुर के कोई शाक्य पार्थ रश्मि लिखते हैं, 'जिस सहज कहानी की बात आप चला रहे हैं क्या वह पुराण-कथाओं में नहीं है? या किस्सा तोता-मैना या ऐसी कई पुस्तकों में नहीं है? क्या हम सब उसको लक्ष्य (आधार) बनाकर आज के संदर्भ में लिखें?' या कि जैसे दिल्ली की आशारानी व्होरा लिखती हैं—कहानी को निरी कुंठाओ के दलदल से निकालकर सहजता के पथ पर लाने का यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य होगा, बशर्ते यह 'सहजता' भी एक आंदोलन न बन जाये और कथ्य की सहजता में कमजोर शिल्प को प्रश्रय न मिले।"

1 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', हस प्रकाशन, पृ 99–100

इन शंकाओ का समाधान करते हुए अमृत राय[1] ने स्पष्ट किया है, "...ठीक शंका है, और हम उसका आदर करते हैं क्योकि उससे पता चलता है लोग अब पहले से ज्यादा सजग हैं—लेकिन उसका समाधान समय ही कर सकेगा। अपनी ओर से हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हम कोई नया आंदोलन नहीं छेड़ना चाहते। आंदोलनो की यों ही कुछ कमी नही है, एक बाढ़-सी आयी हुई है। उसमें हम एक और आंदोलन छेड़कर क्या बना लेगे। बहुत बेकार चीज है। असल चीज एक ही है, अच्छी कहानियाँ लिखी जाये।"

अमृत राय[2] इस बात से इनकार करते हैं कि उन्होंने 'सहज कहानी' नाम से कोई आंदोलन शुरू किया है, "...और न हमने सहज कहानी के नाम से एक नया आंदोलन शुरू करने के ख़याल से यह चर्चा छेड़ी है। हमे तो बस अच्छी प्राणवान, सरस, सशक्त कहानी से मतलब है।...हमारे लिए कहानी की एक ही कसौटी है—कि वह कुछ कहती है। कहने का अंदाज कुछ भी हो, उसकी सकत का इम्तहान इसी एक बात में है कि वह हमसे कुछ कहे, हमे हँसा सके, रूला सके, जीवन के हमारे साक्षात्कार को और भी गहरा, और भी पैना कर सके, हमारे रागबोध को और भी समृद्ध कर सके, हमारी संवेदनाओ को और भी सूक्ष्म, और भी मर्मग्राही बना सके, सामान्य जीवन के स्तर को एक और भी परिष्कृत मानसिकता दे सके, हमारे दिल-दिमाग को झँझोड़कर हमें फिर से अपना दिल टटोलने और फिर से सोचने के लिए मजबूर कर सके।"

जहाँ तक पाठकों का प्रश्न है तो पाठक अब भी मर्मस्पर्शी और प्राणवान कहानियाँ ही पसंद करते हैं। अमृत राय[3] ने स्वीकार किया है, "पाठक खूब सजग हैं और अब भी, पहले ही की तरह, प्राणवान और मर्मस्पर्शी कहानियाँ पसंद करते हैं और नये कहानीकारों की विशाल संख्या संसार के श्रेष्ठतम कथाकारों की परंपरा में अब भी वैसे ही जीवनधर्मी-समाजधर्मी कहानियाँ लिख रही हैं।"

1. वही
2 वही, पृ. 101
3 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हस प्रकाशन, पृ. –102

पर इसका आशय यह न निकालना चाहिए कि अमृतराय कहानी मे पुरानेपन के समर्थक हैं, या फिर अनुकरणमूलक नयेपन के। अमृत राय[1] ने स्वयं लिखा है, "...जिसका मतलब यह नही है कि हम कहानी मे पुराने के समर्थक हैं। नही हम भी नयेपन के हामी हैं, पर उस अंधे अनुकरणमूलक नयेपन के नहीं जो अपने दिक्–काल से उखड़ा हुआ है, उस सहज नयेपन के जो हम जाने या न जाने, चाहे या न चाहें अनुदिन-अनुक्षण बदलते हुए जीवन और समाज का सहज धर्म है, जिसके पीछे हमारे देश-काल का साक्ष्य है और जो हमारी सहज मानसिकता का अंग बन सका है।"

अमृत राय[2] लेखको को सलाह देते हैं कि मन की प्रेरणा से लिखी हुई रचना ही सहज होती है, "सहज कहानी की चर्चा करके हम अपने लिखनेवालों से यही कहना चाहते रहे हैं कि अपने भीतर पैठकर अपने मन की सच्ची प्रेरणा से लिखिए, रचना अच्छी उतरी या नहीं उतरी इसकी सनद के लिए अपने बाहर इस पंडे और उस पुरोहित की ओर नही अपने भीतर देखिए, अध्ययन-मनन से आप अपने भीतर स्वयं ऐसे एक आलोचक का निर्माण कर लेंगे जो आपको बता देगा कि आपकी चीज जैसी बननी चाहिए थी बनी या नहीं बनी।"

हालांकि अमृतराय ने सहजता और मन की प्रेरणा पर बार-बार जोर दिया है, फिर भी देश और काल से कटी हुई सहजता यथोचित नहीं है। यदि देश की परिस्थितियाँ जटिल हो तो उसकी प्रस्तुति जटिलतर बनाकर नहीं वरन् बारीकी से सहज बनाकर की जानी चाहिए। अमृत राय[3] ने लिखा है, "हम यह मानते हैं कि आज दुनिया की, और सबसे ज्यादा खुद हमारे देश की, स्थिति अनेक रूपों में, अनेक स्तरों पर, अत्यंत जटिल है। इसीलिए तो उसको और भी बारीकी से और भी गहराई से और भी समग्र रूप में देखने-समझने की जरूरत है। यह समझना कि उन जटिल स्थितियों को उसी तरह

---

1 वही

2. वही, पृ. 110

3 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ. –111

की कुछ जटिल रेखाओ या शब्दो का आकार दे देना अनुरूप कला या साहित्य की सृष्टि करना है, बहुत बड़ी भूल है। जटिल को बोध ओर संवेदना के स्तर पर सहज करके समझने और ग्रहण करने की और फिर उसे सहज रूप में साहित्य में ढालने की प्रक्रिया निश्चय ही अत्यंत जटिल है पर सार्थक और मार्मिक साहित्य-सृष्टि उसके बिना नही हो सकती, और रचना का आस्वादन करते समय पाठक को आपकी जटिल प्रक्रिया से या उस जटिल कच्चे माल से प्रयोजन नही होता, उस सहज कहानी से होता है जो आपके भीतर ढलकर बाहर आयी है।''

सच्चाई यह है कि जिस कहानी मे सहज कथा-रस नहीं है वह किसी दिन लोकप्रिय नहीं हो सकती और न साहित्य में स्थायी प्रतिष्ठा ही पा सकती है, क्योंकि अमृत राय[1] के मतानुसार, ''आदमी हर चीज से विद्रोह कर सकता है, हर चीज को छोड़ सकता है, अपने आंतरिक स्वभाव को नहीं। कहानी के सारे प्रयोग इसीलिए, हमारी समझ में, इस सहज कथा-रस के चौखट में किये जाने पर ही सार्थक हो सकते हैं।''

वस्तुतः पाठक की नजर बस एक चीज पर होती है, कहानी का रस। जिस कहानी मे उसको वह रस मिलेगा उसकी तरफ दौड़ेगा और जब ऐसी कहानी उसको नहीं मिलती जो उसकी समग्र संवेदना के भीतर गहरे उतरकर उसको यह कथा-रस दे सके तो वह उन ढेरों कहानियों के पास जाता है जो एक उथले और घटिया स्तर पर उसकी इस कथा-रस की भूख को शांत करती है। अमृत राय[2] के अनुसार, ''घटिया जासूसी-ऐयारी-तिलस्मी कहानी-पत्रिकाओं की लोकप्रियता का यही रहस्य है।''

कहानी की घटती लोकप्रियता के लिए कहानीकारो को जिम्मेदार ठहराते हुए अमृतराय[3] लिखते हैं, ''इसके लिए कुछ हद तक हम कहानीकार भी जिम्मेदार हैं, जो अच्छी तरह कहानी कह सकते हैं, जिनके पास ज़बान है, जिनकी क़लम मे जोर है, मगर जो अपने

1. वही, पृ. 95
2 वही
3 वही

ढंग से अपने धरातल पर मन को बाँधने और छूनेवाली कहानी न लिखकर नयेपन के चक्कर में ऐसी बेजान और नीरस और गँठीली कहानियाँ लिखने मे लगे हैं जिनको पढना एक अच्छा-खासा प्रणायाम या साँसत है- और साँसत करवाने के लिए कोई कहानी नही पढता।''

हालांकि सहजता की परिभाषा करना कठिन है क्योकि उसके उतने ही आयाम हैं, उतने ही कोण हैं, जितने जीवन के, फिर भी अमृत राय[1] ने सहजता की परिभाषा की है और लिखा है, ''सहज वह है जिसमें आडंबर नहीं है, बनावट नही है, ओढ़ा हुआ मैनरिज्म या मुद्रा-दोष नहीं है, आइने के सामने खड़े होकर आत्म-रति के भाव से अपने ही अंग-प्रत्यंग को अलग-अलग कोणों से निहारते रहने का प्रबल मोह नहीं है, किसी का अंधानुकरण नहीं है।''

मार्के की बात यह है कि जब पढ़ने वाले 'नयी कहानियों' को पढ़ना पसन्द नहीं करते और भाग जाते हैं तो यह नया कहानीकार अपने मन को समझा लेता है कि इसका कारण पाठक की रूचिहीनता है, अभी हमारी कहानी उसकी समझ में नहीं आ रही है क्योंकि वह नये ढंग की कहानी है और पाठक अब तक पुराने ढंग की कहानियाँ पढ़ता आया है। लेकिन नया कहानीकार यह नहीं सोचता कि आखिर यह कैसे होता है कि इन्हीं में से कुछ 'नयी कहानियाँ' पसंद भी की जाती हैं?

अमृत राय[2] इस सोच को आत्म-छलना मानते हैं। उन्होंने लिखा है, ''इससे बड़ी आत्म-छलना दूसरी नही हो सकती। जल्द से जल्द उससे मुक्ति पा लेना ही अच्छा है। जिस कहानी में सहज कथा-रस नहीं है वह किसी दिन लोकप्रिय नहीं हो सकती और न साहित्य में स्थायी प्रष्ठिा ही पा सकती है।''

सच्चाई तो यह है कि सार्थक, रसोतीर्ण रचना को अपनी वकालत में पोथे रँगने की जरूरत नहीं पड़ती। यह कहना कि पाठक उसके लिए प्रस्तुत नहीं है या लंबी-

---

1. वही, पृ. 102–103
2. अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ. – 95

लंबी टीकाओ के बिना समझ नही सकता, केवल दंभ है और आत्म-छलना। सच तो यह है कि कहानी जब हृदयग्राहिता की सहज कसौटी पर अनुतीर्ण होती है तभी अपने को मनवाने के लिए, उदासीन दर्शको को भरमाने के लिए बहुरुपियो के जैसे नये-नये रूप भरने पड़ते हैं। कोई एक नाम की कहानी लिये चला आ रहा है, कोई दूसरे नाम की कहानी लिये चला आ रहा है, कोई अपने नये शिल्प का ढिंढोरा पीट रहा है और कोई कहानी की अपनी नयी भाषा का। अच्छी सार्थक कहानी की कुछ नयी कसौटियाँ ठोक-पीटकर खडी की जाती हैं, कहानी-चर्चा के लिए एक नयी संध्या भाषा का आविष्कार किया जाता है, पश्चिम के किसी बड़े नाम के स्मरण के साथ आए दिन कहानी के संबंध मे एक किसी नये वेद-मंत्र का पाठ किया जाता है। अमृत राय[1] के शब्दो मे, "इसके दो ही नतीजे हो सकते थे- एक तो यह कि पाठकों की कहानी-रूचि ऐसी बदल जाती कि नयेपन और आधुनिकता के नाम पर उसी तरह की उलझी हुई, कुहरे मे लिपटी हुई, एकरस और गँठीली कहानियाँ उनको पसन्द आने लगती, और दूसरा यह कि नये-नये लिखनेवालो की टोलियाँ बड़ी संख्या मे ऐसी ही कहानियाँ लिखने की ओर प्रवृत्त होती।"

लेकिन दोनों ही स्तरों पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि पाठक खूब सजग हैं और अब भी, पहले ही की तरह, प्राणवान् और मर्मस्पर्शी कहानियाँ पसंद करते हैं और नये कहानीकारों की विशाल संख्या संसार के श्रेष्ठतम कथाकारों की परंपरा में अब भी वैसी ही जीवनधर्मी समाजधर्मी कहानियाँ लिख रही है। भविष्य उन्हीं सहज लिखनेवालों का है। नक्कालों का कोई भविष्य नहीं है क्योंकि वे आज एक की नकल करते हैं, कल फैशन बदलने पर किसी दूसरे की नकल करेंगे, और इसी तरह नकल करते-करते चुक जायेगे, चुक गये हैं। अमृत राय[2] सवाल उठाते हुए कहते हैं, "ओढ़ी हुई मानसिकता से तुम अपने को क्या समझोगे? अपने मन को जगाओ।

---

1 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हस प्रकाशन, पृ. – 102

2. वही, पृ. – 109

अपने भीतर देखो, अपने आस-पास देखो, और चलो जहाँ तक, जिन-जिन गलियो-बाजारो, राहो-दुराहो-तिराहों-गोरखधंधो, नदी-नालो, जंगल-पहाड़ो के बीच होकर वह तुम्हे ले जाता है। वही लेखक की यात्रा है और उस यात्रा का सुख, रचना-कर्म का सुख-अपरिचित वन-प्रान्तर मे घूमने-फिरने का, जहाँ महत्व पहुँचने का नही, चलते रहने का है, पहुँचा तो कोई कहीं नही।''

यदि रचनाकार के मन में यह ग्रंथि पैदा हो जाती है कि कहीं मैं ऐसा कुछ तो नही लिख रहा हूँ जो बिलकुल अन-आधुनिक है। कहीं मेरा शिल्प पुरातनपंथी तो नहीं है। लोग मेरी कहानी को बासी-तिवासी कहकर घूर पर तो नही फेंक देंगे। नयी हवा को अपने फेफड़े मे भर लूँ, नये भावबोध को पूरी तरह अपना लूँ, सार्त्र-कामू-काफ्का-किर्केगार्द को पढ़ लूँ, नये शिल्प को करायत्त कर लूँ, लंदन-पैरिस-न्यूयार्क-मेक्सिको-टोकियो-ग्रिनिच विलेज में इस समय क्या लिखा जा रहा है इसको देख-समझ लूँ-तो अमृत राय[1] के शब्दों में, ''यहीं से अ-मौलिक, अ-प्रामाणिक, अ-सहज, नितान्त अनुकरणमूलक लेखन की शुरूआत होती है और रचनाकार का अपना सहज बोध और अपनी सहज संवेदनाएँ मुमूर्षु होने लगती हैं क्योंकि उसकी आँखें अपने भीतर, अपने आस-पास, अपने देश-काल को न देखकर उन दूर-दराज 'आधुनिक भाव बोध के केन्द्रों' पर लगी रहती हैं।''

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नया से नया जो कुछ लिखा जा रहा है, कविता- कहानी-नाटक, उसको पढ़ा न जाय। अमृत राय मनाही नहीं करते। अमृत राय[2] पढ़ने की वकालत करते हैं लेकिन सचेत करते हैं, ''पढ़ा जाय और जरूर पढ़ा जाय लेकिन इतने समर्पित भाव से न पढ़ा जाय कि अपनी प्रतीति, अपने बोध, अपने विवेक, अपने देश-काल की अपनी समझ को छुट्टी दे दी जाय या सस्पेंड कर दिया जाय। यह न तो आधुनिक बनने का रास्ता है और न श्रेष्ठ साहित्य-सृजन का रास्ता है।''

---

1. अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ. – 109–110
2. वही, पृ 110

कहानी के 'नये भावबोध', 'नयी संवेदना' और 'नये युगबोध' को लेकर पिछले दिनो इतना आडंबर रचा गया है कि आदमी का सिर चकरा जाता है—और पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। इतनी सारी बाते और ऐसी कुहरे मे लिपटी हुई भाषा में कही जाती रही हैं कि उनका सिर पैर समझना मुश्किल है। लेकिन शायद आज की जीवन स्थितियाँ इतनी ज्यादा उलझी हुई हैं कि उनके दबाव मे पडकर हमारे चिंतन मे, हमारी भाव स्थितियो मे भी उसी तरह के उलझाव का पैदा हो जाना एकदम अस्वाभाविक भी नही कहा जा सकता। लेकिन अमृत राय[1] का मानना है, "ऐसी ही उलझी हुई स्थितियो के लिए मनुष्य का अपना स्वतंत्र विवेक है, जिस पर हमने पहले भी बल दिया है। दुनिया मे एक से एक बडे विचारक हुए हैं, आज भी हैं, आगे भी होंगे, लेकिन क्या जरूरी है कि हम किसी की भी बात को बिना परीक्षा किये स्वीकार करे? हम बहुत अल्पमति सही, लेकिन जितनी भी सीमित बुद्धि हमारे पास है, जितना भी सीमित हमारा जीवन-अनुभव है, अपने देश-काल अर्थात् इतिहास और भूगोल की जितनी भी कम या ज्यादा हमारी समझ है, जिस भी काव्य और दर्शन ने जाने-अनजाने हमारी आत्मा का संस्कार किया है और हमें अपने जीवन के कुछ विशेष मूल्य दिये हैं ...हम क्यों उसकी कसौटी पर हर बात को नहीं परख सकते, इसकी चिन्ता किये बगैर कि वह बात किसने कही है? अपने प्रति ऐसा हीनता-बोध क्यो?"

सहज कहानी संबंधी इतनी बाते करने के बाद भी अमृतराय[2] बार-बार यह दुहराते हैं कि सहज कहानी कोई आंदोलन नहीं है—"साहित्य में आंदोलनों की आजकल यों ही इतनी भरमार है कि जीना मुहाल है। सबेरे अखबार खोलते ही जैसे कहीं न कहीं गाड़ी के लड़ने या उलटने की खबर जरूर मिलती है वैसे ही हर लघु पत्रिका खोलते ही एक नये आंदोलन का झंडा फरफराता दिखायी पड़ता है। आंदोलनकारियों की उस भीड़ मे अपना एक नया झंडा लेकर जा खड़े होने की हमारी कोई अभिलाषा नहीं है।"

---

1 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ – 111–112

2 वही, पृ 106

अमृत राय द्वारा दिए गए इस वक्तव्य पर कि 'सबेरे अखबार खोलते ही जैसे कही न कही ट्रेन के लड़ने या पलटने की खबर मिलती है वैसे ही हर लघु पत्रिका खोलते ही एक नये आंदोलन का झंडा फरफराता दिखायी पड़ता है'—शिवमूर्ति लाल[1] ने सवाल उठाया था- 'ऐसे आन्दोलन से आपको क्या भय है?' इसका जवाब देते हुए अमृत राय ने कहा था- "भय, मुझे कुछ नहीं है लेकिन ये सारी शक्तियाँ जो अलग-अलग आंदोलन का रूप लेकर बिखर रही हैं। अगर मिलकर व्यापक संघर्ष का रूप ले सके तो ज्यादा प्रभावी होंगी, ऐसा मैं समझता हूँ।"[2]

तरह-तरह की शंकाओं और चर्चाओ से घबराकर अमृत राय[3] ने 'सहज कहानी' संबंधी प्रत्यय को छोड़ देने का मन बनाया था, जैसा कि उन्होने स्वयं लिखा है— "एक बार हमारे जी में यह भी आया कि 'सहज कहानी' की चर्चा को अब यही समाप्त कर दें, क्यों किसी को कुछ भी कहने का मौका दिया जाय। लेकिन हमने फिर सोचा तो समझ में आया कि दो-चार लोगो के अप्रचार से डरकर एक अच्छी भली चर्चा को, जिसे आम पाठक और दल-मुक्त नये कहानीकार इतना ज्यादा पसंद कर रहे हैं, समाप्त कर देना अन्याय होगा- हम कोई मर्यादा पुरूषोत्तम राम तो हैं नहीं जिन्होंने एक धोबी के कुत्सित प्रचार से डरकर सीता जी को जंगल में पटील दिया! और फिर इसी की क्या गारंटी है कि ऐसा करने से उन लोगों की जबानें बंद हो जायेंगी? दोषारोपण करने वाले का मुँह आज तक कोई नहीं बंद कर सका है। ऐसे में यही ठीक है कि अपनी बात बेधड़क कही जाय, जिसको जहाँ चोट लगेगी वह आप अपनी चोट जैसे चाहे सहला लेगा! पहलू बचाकर बात करने वाला सारी उम्र पल्लू बचाते-बचाते खुद भी बेपेंदी का लोटा हो जाता है।"

जब अमृत राय यह मानते हैं कि 'सहज कहानी' कोई आंदोलन नहीं है, कोई

---

1. अमृत राय से शिवमूर्ति लाल की बातचीत, 'अभिप्राय-6', पृ. - 61
2. वही
3 अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', हस प्रकाशन, पृ - 106

नारा नही है, तब इस शीर्षक के अंतर्गत बाते करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका जवाब अमृत राय[1] देते हैं, "हमने इस शीर्षक के अन्तर्गत अपनी बात कहना इसलिए पसंद किया कि कहानी के बारे मे, जीवन और समाज के बारे में, हम जितनी सब बाते समेटकर कहना चाहते है उनके लिए इससे अच्छा दूसरा कोई शीर्षक हमे नहीं सूझा।"

एक विराट सवाल यह खडा होता है कि संपादकीय मे इतनी सब बाते कहने की जरूरत भी क्या है, कहानियाँ मँगाइए और छापिए जैसे दूसरे सब करते हैं। असल मे अमृत राय संपादकत्व का इतिश्री कहानी चयन को ही नहीं मानते, वरन् उससे आगे जाकर चिंतन करते हैं। महज कहानी चयन को वह पत्र के संपादन का एक निरा व्यावसायिक दृष्टिकोण से मुक्त रखने का हरसंभव प्रयत्न करते हैं। अमृत राय[2] का कहना है, "हम समझते हैं कि संपादकीय कर्म के दो स्तर हैं—एक तो जो लिखा जा रहा है उसमें से श्रेष्ठतम रचनाओ का संकलन करके उन्हें पाठको के समक्ष प्रस्तुत करना और दूसरे जो लेखन की क्रिया है उसमे अपनी ओर से योगदान करना विनम्रतापूर्वक अपना समुचित अंश ग्रहण करना, जिसमें और भी अच्छा लिखा जाय, साहित्य की और भी श्रीवृद्धि हो।...हमको यह आवश्यक जान पड़ा कि हम कहानियो के अपने चयन को तो अपनी बात कहने ही दे, साथ ही अपने संपादकीय वक्तव्य में भी स्पष्ट रूप से कहें कि हम कहानी के बारे में क्या सोचते हैं, कैसी कहानी को अच्छा और कैसी कहानी को घटिया समझते हैं, कहानी की भाषा के बारे में हमारे क्या विचार हैं, जीवन और समाज के संबंध में हमारी दृष्टि क्या है, सम-सामयिकता से हम क्या समझते हैं, आधुनिकता को हम किस रूप मे देखते हैं, कहानी के प्रयोगों और कहानी की परंपरा को हम किस प्रकार अन्तग्रथित रूप में देखते हैं, और ऐसे ही दूसरे प्रश्नों के बारे में जो हम सभी को तंग करते हैं हमारा सोचने का ढंग क्या है- ताकि अपने पाठकों ओर लेखकों से

1. वही, पृ 107
2. अमृत राय, 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', हस प्रकाशन, पृ – 107

हमारा निकटतर संपर्क स्थापित हो सके, इसलिए नही कि हमारी सब बाते सब लोग सुनते ही मान लेगे, कि जैसे कोई अवतारी पुरूष बोल रहा है, बल्कि इसलिए कि बातचीत करने से दृष्टि मे जो स्वच्छता आती है वह सभी के लिए उपादेय होगी और सभी को अपने रचनाकर्म का परिप्रेक्ष्य कुछ और खुलता हुआ दिखायी पडेगा।''

अमृत राय[1] अंततः संतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं- ''हमें इतने ही महीनो के अपने संपादकीय अनुभव मे यह देखकर बड़ी हार्दिक प्रसन्नता हुई है और हमारे लिए यह एक सुखद आश्चर्य था, कि थोड़े से यश-लोलुप (यशः कामी नहीं,यशः कामी तो सभी होते हैं) लोगो को छोड़कर जिनकी अधिकतर ऊर्जा साहित्य-सृजन में न लगकर साहित्य की राजनीति में लगती है, शेष सभी सहज होकर लिखते हैं और उनकी रचनाओं में उन्हीं की सच्ची संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ बोलती हैं जिनके मूल मे उनका अपना जीवन-अनुभव है, जो कुछ उन पर या उनके आत्मीय जनों मे किसी पर बीती है।''

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहना समीचीन होगा कि अपनी सहज अनुभूति को सहज ढंग से कह पाना ही साहित्य की वह कीमियागरी है जिससे मुर्दा शब्द जी उठता है।

(ख) 'सहज कहानी' संबंधी दृष्टिकोण के प्रगतिशील आधार :

कहानी के बारे में टिप्पणी करते हुए अमृत राय[2] ने लिखा है, ''कहानी सामाजिक विधा है, जन्म से ही। एक आदमी कहानी कहता है, दूसरा आदमी कहानी सुनता है; वही दूसरा आदमी समाज है और यही कहानी की सामाजिकता का आधार है। गीत आदमी अकेले भी गा सकता है और अकसर अकेले ही गाता है,कहानी अकेले नहीं कह सकता, जब तक कि उसका दिमाग ख़राब न हो।''

---

1 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ – 08
2 वही पृ – 94

कहानी के संदर्भ मे अमृतराय की यह टिप्पणी उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है। अपने इन्हीं विचारों की कसौटी पर कहानी को कसने का प्रयत्न अमृतराय ने किया। उन्होंने सदैव ही ध्यान रखा कि अपने समाज, देश और काल से कहानी के कथ्य एवं संवेदना का जुड़ा रहना अनिवार्य है।

साथ ही उन्होंने 'नई कहानी' की जडता को खत्म करने के लिए भी अभियान छेडा और वही अभियान 'सहज कहानी' संबंधी प्रत्यय के रूप में प्रस्फुटित हुआ। ऐसा करने के पीछे अमृतराय की वह मूल मान्यता है, जिसके तहत वह प्रगतिशीलता को जडता का विलोम मानते हैं। जहाँ उन्होंने 'नई कहानी' की बासी कढ़ी मे उबाल लाने की कोशिश की वहीं उन्होंने हर स्थान पर हर किस्म के अन्याय का प्रबल प्रतिकार किया।

यह बात भी कम मार्के की नहीं है कि संपादक का कर्त्तव्य, जो कि केवल कहानी चयन तक सीमित था, अमृतराय ने उसे वैचारिक स्तर प्रदान किया और जड़ हो चुकी संपादकीय कला को गतिशील स्वस्थ कला की आधार भूमि उपलब्ध करायी। 'नई कहानियाँ' पत्रिका का संपादकीय अमृत राय की प्रगतिशील वैचारिकता का ज्वलंत उदाहरण है। इसी वैचारिकता का परिणाम है कि 'सहज कहानी' शीर्षक से लिखा गया संपादकीय मील का पत्थर साबित हुआ। 'सहज कहानी' संबंधी चर्चा के दौरान उनके द्वारा की गयी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं में प्रगतिशीलता के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है।

अमृतराय की मान्यता है कि कहानी ऐसी होनी चाहिए जो हमारे जीवन के यथार्थ के समीप हो जो मात्र आँखें मूँदकर लिखी गयी न हो। आँखे खोलकर उस दर्द को सहकर, देखकर लिखी गयी हो तो हमारे जीवन पर उसका प्रभाव भी पड़ता है। वे कहानी की सहजता पर ही विश्वास करते हैं। कहानी ऐसी होनी चाहिए जो आम आदमी की समझ से परे न हो।

अमृत राय का मानना है कि कहानीकार के लिए आज कथावस्तु का अभाव नहीं है। उसे हर जगह कथा-सामग्री प्राप्त हो सकती है, पर जरूरत है उसे सही ढंग से

प्रस्तुत करने की। आजकल मजदूर, किसान, गरीबी आदि समस्याओ पर साहित्य तो प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं, लेकिन संवेदना की गहराई और उपेक्षित वर्ग की भलाई उसमे दिखायी नही देती। आज के लेखक बिना समस्याओ को देखे, बिना अपने आपको उस स्थिति मे रखे, बिना गरीबों-मजदूरो के साथ समय बिताये ही दूर से कल्पना के द्वारा जब यथार्थ चित्र खीचना चाहते हैं तो वह साहित्य काल्पनिक ही रह जाता है, उसमे अनुभूति की सच्चाई नाममात्र की भी नहीं रहती, केवल शब्दों की सजावट ही हो पाती है–''कोई प्रगतिशील समाजवादी लेखक अपनी कला के प्रति ईमानदार बनना चाहता है तो उसे शोषित वर्ग का बनना होगा। वर्ना उसका समाजवाद पर, मजदूर पर, किसी के शोषण पर कलम चलाना अनधिकार चेष्टा छोड़ और कुछ नहीं होगा।''[1]

कथाकार जितना अपने से बाहर दुनिया को देखता है, उससे कहीं ज्यादा अपने ही मन मे, स्वयं अपने भीतर डूबकर देखता है, और बाहर भी जो देखता है उसकी भी अंतिम कसौटी अपने ही मन को बनाता है, अपनी ही अनुभूति और संवेदना को। जितने ही गहरे वह अपने भीतर पैठ पाता है उतनी ही सहज अंतर्दृष्टि उसे मनुष्य मात्र के चित्त मे मिलती है, और फिर जीवन के सार्वभौम सत्य को, अपने उस कोण से, उतने ही अधिक परिष्कृत, सर्वग्राह्य और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करना उसके लिए संभव हो पाता है। बात सुनने मे कुछ असंगत-सी लग सकती है, पर वह केवल विरोधाभास है। स्वानुभूति और परानुभूति में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः दो अलग संदर्भों मे वह एक ही चीज है।[2]

अमृत राय[3] के शब्दो में इसका कारण यह है, ''कथा-रस सबसे पहले कथाकार की कथा-दृष्टि में होता है। उसने किसी चीज को किस रूप में देखा है, और किस तरह उसका संयोजन किया है। घटना अपने आप में कहानी नहीं है। वस्तुतः घटना

1. 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ – 97
2. वही
3 वही, पृ 96

कहानी की घटना ही नहीं है जब तक कि कहानीकार अपने रचना-शिल्प से उसको अपनी कहानी के भीतर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित नही कर देता। और इसके लिए जरूरी है कि सबसे पहले उसका रचनाकार मन उस रूप मे उसको देखे, पकड़े। वह देखना ही रस के व्यापकतम अर्थ मे, सहज संवेदना के अर्थ मे, सरस देखना है।"

हालांकि अमृत राय[1] मानते हैं, "तथाकथित 'नवलेखन' में संवेदना भी संदेहास्पद हो गयी है, क्योकि आधुनिक होने का अर्थ समग्र भाव से अनास्थावान् होना मान लिया गया है और आस्था, कैसी भी आस्था, बहुत पुरानी और दकियानूस चीज हो गयी है। पर हमारा विश्वास है कि और चाहे जितनी अनास्था हो, लेखक के पास जब तक एक अंतिम आस्था अपनी मानवीय संवेदना मे नहीं है तब तक कोई सार्थक सृष्टि नही हो सकती।"

यहाँ तक कि, सार्त्र हों या कामू या काफ्का या नीत्शे या दास्तोवेस्की, अनास्था का सार्थक स्वर भी किन्हीं महत जीवन-मूल्यों में लेखक की गहरी आस्था में से ही निकलता है, जरूरत बस उस आँख की है जो उस अनास्था के उद्घोष के पीछे से व्यंजित होनेवाली उनकी उस गहरी आस्था को पहचान सके। उसको संदेह की दृष्टि से देखकर, उसका तिरस्कार करके और संपूर्ण अनास्था को ही अपना जीवन-मूल्य बनाकर, जैसा किसी बड़े लेखक के यहाँ नहीं है, अमृत राय[2] के शब्दों में, "यह अतिआधुनिकता–वादी कहानीकार सबसे अधिक अपना ही अनिष्ट करता है।"

ढेरों 'नयी कहानियाँ', जो यहाँ-वहाँ छपती रही हैं और छपती रहती हैं, सब मे वही एक ही ढंग की यौन कुंठा, ऊब, घुटन, जीवन की एकांत व्यर्थता का भाव और एक-सा ही उसका चित्रण। कहानीकार की अपनी अनुभूति का स्वाक्षर उसमें कहाँ है? क्यों सब एक दूसरे की आवृत्ति और पुनरावृत्ति मालूम होती हैं? अमृत राय[3] के अनुसार,

---

1 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ – 99

2 वही, पृ 99

3 वही, पृ 97

"इसका शायद पहला और सबसे बडा कारण है कि लेखक सहज होकर नही लिख रहा है। अपनी सहज अनुभूति को सहज ढंग से कह पाना ही साहित्य की वह कीमियागरी है जिससे मुर्दा शब्द जी उठता है।"

लेकिन यह सहज स्थिति समाप्त हो जाती है जब हम बाह्य दबावो मे पड़कर जीवन को अपनी खुली आँखो न देखकर रंगीन चश्मों के पीछे से देखने लगते हैं, या जीवन को उसकी समग्रता मे न देखकर उसके किसी खंड को पकड़कर बैठ जाते हैं। अमृत राय[1] के अनुसार, "जहाँ लेखक को लिखते समय यह चिंता सताने लगे कि उसकी रचना 'आधुनिकता' या 'आवाँ गार्द' के मानदंड पर खरी उतरती है या नहीं; उसने अगर कोई 'पॉज़िटिव' चरित्र उठा लिया या कोई ऐसा सार्थक जीवन-अनुभव जिसमें मनुष्य का कदर्य-कुत्सित रूप न उभरकर उसका अच्छा रूप उभरता हो तो उसकी टोली के लोग उसे किस रूप में ग्रहण करेंगे, कहीं उसे दकियानूस या पुरातनपंथी या कन्वेंशनल तो नहीं कहने लगेंगे, वहीं वह अपने ही को झुठलाना शुरू करता है और सहज संवेदना के स्थान पर आरोपित बौद्धिक लेखन की, मौलिक सर्जनात्मक लेखन के स्थान पर परिपाटीग्रस्त अनुकरणमूलक छद्म लेखन की शुरूआत होती है और वही साहित्यकार की अकाल मृत्यु का राजमार्ग है।"

हालांकि इस प्रकार का छद्म लेखन हिन्दी साहित्य में पहली बार नहीं हो रहा है, छायावादी काल और प्रगतिवादी काल में प्रचुर छद्म लेखन हुआ था। इसीलिए उनका अधिकांश मिट गया, उनमे से ठहरा वही जो रचनाकार की सहज संवेदना से निकला था, जिसकी रचना में कृतिकार की आत्मा का योग था। नयी कहानियाँ और अकहानियाँ जो बहुत सी लिखी जा रही हैं, उनके साथ भी अधिकतर वही बात होगी, बल्कि हो भी चली, शायद उससे बचने का कोई उपाय भी नहीं है। अनुकरणमूलक लेखन कुछ न कुछ होता ही है, पर यदि छोटे और सामर्थ्यहीन लेखकों की ही बात हो तो शायद

---

1 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ - ९८

उतना बुरा भी न लगे। दुःख तो तब होता है जब आदमी किसी अच्छे प्रतिभा-सपन्न कहानीकार को अपने इन्ही रगीन चश्मो के कारण भटक जाते देखता है। वह फिर कोई हो इससे बहस नही। इस भटकाव के कितने ही कारण हो सकते हैं, पर अमृत राय[1] के शब्दो मे, "शायद सबसे बड़ा कारण है अपने देश-काल को न पहचानना और अपनी सहज भूमि को छोड़ देना। अपनी सहज भूमि अर्थात् अपनी कथा-परंपरा की सहज भूमि और अपनी सहज संवेदना की भूमि।"

अमृत राय की मान्यता है कि स्वानुभूति और परानुभूति मे कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः दो अलग-संदर्भों में वह एक ही चीज है। क्योंकि समस्त चराचर सृष्टि एक है, उसमें सब एक दूसरे से जुड़े हैं, और मनुष्य मात्र का चित्त एक है। पिंड में ब्रह्म को देखना भी यही चीज है। यही सहज स्थिति है पर इस सहज को पाना सरल नही है। उसके लिए साधना अपेक्षित है। साहित्यकार की साधना भी ऐसी ही एक साधना है। वाह्य संदर्भों मे मनुष्य का जो चित्त शतधा खंडित है उसके लिए फिर वह मिलन भूमि प्रस्तुत करना जहाँ सब एक हैं। पर इसके लिए सबसे पहले साहित्यकार के मन को ऐसा एक संगम-तीर्थ बनना पड़ेगा। अपना मानस-मुकुर स्वच्छ न हो तो बाहर का प्रतिबिंब वह कैसे ग्रहण करेगा। उसके लिए सहज भाव से अपनी संवेदनाओं के रूप में उत्तर देना जरूरी है।

इसी बात को रवीन्द्रनाथ ने यों कहा कि अपने मन के खिड़की-झरोखे खोलकर रखो, जीवन को खुली हवा की तरह सब तरफ से अपने भीतर आने दो। फिर तुममे अगर रचना की क्षमता है तो वही तुम्हारे भीतर की दुनिया के साथ मिलकर एक नया रूप लेगा और तुम्हारी रचना बनकर बाहर आयेगा-जिसे तुम अपना कहकर जानोगे और दुनिया अपना कहकर पहचानेगी।

अमृत राय कहानी में पुरानेपन के समर्थक नहीं हैं, नयेपन के हामी हैं, पर उस

1 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ. – ९९

अंधे अनुकरणमूलक नयेपन के नही जो अपने दिक्काल से उखड़ा हुआ है, उस सहज नयेपन के जो हम जाने या न जाने, चाहे या न चाहे, अनुदिन-अनुक्षण बदलते हुए जीवन और समाज का सहज धर्म है, जिसके पीछे हमारे देश-काल का साक्ष्य है और जो हमारी सहज मानसिकता का अंग बन सकता है।

अमृतराय[1] लिखते हैं, "सोचने की बात है कि जिस नये कहानीकार की उम्र आज पच्चीस या सत्ताईस या तीस साल है, उसने जब से होश सँभाला तब से समाज का कैसा रूप देखा, कैसे लोगो को चढ़ते और कैसे लोगों को गिरते देखा, कैसे लोगो को हवेलियों पर हवेलियाँ खड़ी करते और कैसे लोगो को समाज में पुजते और कैसे लोगों को किसी घूर पर एड़ियाँ रगड़ते देखा, उठते-बैठते, सोते-जागते अखबारों के पन्नों में और भाषण के मंचों से ढोंग और ढकोसले की कैसी-कैसी रंग-बिरंगी रेशमी चादरें बुनी जाते देखा, महत् जनों की कथनी और करनी में कैसा आकाश-पाताल का अंतर देखा, व्यवहार में समाज के किन नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित होते देखा। किसी ने खुद अपने बाप या बड़े भाई की बेलाग ईमानदारी के चलते अपने घर को उजड़ते देखा, किसी ने पास-पड़ोस के किसी चाचा-ताऊ को, किसी ने अपने गाँव या कस्बे या शहर के किसी जाने-माने आदमी को जो अपने को बेचना गवारा करता तो जाने कितने महल खड़े कर लेता मगर जिसे यह बात मंजूर न थी और जो अपनी इसी टेक के पीछे बर्बाद हो गया।

आजादी के इन इक्कीस बरसों मे जिस तरह की दुनिया हमने गढ़कर खड़ी की है, जैसी इश्तहारबाजी की दुनिया, धोखे और फरेब की दुनिया, बड़ी-बड़ी बातों के धाँधें में अपना कोई उल्लू सीधा करने की दुनिया, समाजवाद और लोकमंगल के नाम पर पचास करोड़ के इस देश में बड़े-बड़े कुल दो सौ धन्नासेठों की इजारेदारी की दुनिया- और फिर ऐसी अंधेरनगरी में ऊपर से नीचे को रिस-रिस कर छन-छनकर आता हुआ और तह पर तह तलहटी मे जमता हुआ वह सारा जहर एक सड़े-गले समाज के भ्रष्ट

1 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हस प्रकाशन, पृ. – 103–104

नैतिक मूल्यो का, जिसके बीच हम आप रहते हैं और जिसे अपनी साँस के साथ पीते है, एक ऐसी औंधी दुनिया मे जिसमे या तो सारी ताकत सिर्फ जिन्दा रहे आने मे, नून-तेल-लकड़ी जुटाने मे ही छीज जाती है या फिर दूसरा भी महाजनो के दिखाये हुए इसी सफलता के रास्ते पर जाल-बट्टा धक्का-मुक्की करता चल पड़ता है, आत्मा और विवेक को कूड़ा-कर्कट समझकर या फिर जड़ाऊ गहना समझकर जो इस्तेमाल की चीज नही है-और नतीजा वह हिन्दुस्तान है जो हमारी आँखो के आगे खड़ा है।''

अमृत राय[1] इस पर सहजतापूर्वक कहते हैं, ''फिर अचरज कैसा अगर वह नया लेखक जिसने अपने देश मे अपने आस-पास, जब से आँख खोली दूसरा कुछ देखा नहीं जाना नहीं, इसी को जीवन का एकमात्र सत्य मान बैठे और बाकी सबको ढकोसलेबाजी कुछ मक्कार लोगो की या फिर फेनिल उच्छ्वास कुछ सावन के अंधों का जिन्हे सब कुछ हरा ही हरा दिखायी पड़ता है। और फिर, करेला और नीम चढ़ा, बाहर से आनेवाला वह ढेरों साहित्य जो आदमी को जानवर की शकल में पेश करता है और इसी को अपने नये दर्शन और नये सौंदर्यबोध की उपलब्धि मानता है।''

यह सवाल पैदा होता है कि क्या इस स्थापना के पीछे सत्य का बल है? क्या हमारा जीवन-अनुभव इसका साक्ष्य देता है? ऐसे प्रश्नों का अंतिम समाधान सदा व्यक्ति को स्वयं ही खोजना पड़ता है और जीवन में ऐसे अवसर बार-बार आते हैं जब इस तरह के मौलिक प्रश्न हमसे अपना समाधान माँगते हैं और हम भरसक उनका समाधान करते हैं, अपने बाहर की दुनिया के अनुभव के आधार पर और अपने भीतर की दुनिया की अनुभूति के आधार पर।

अमृत राय[2] ने लिखा है, ''औरों की बात मैं नही जानता, मैं इन दोनों ही आधारो पर किसी तरह आदमी को सर्वांग पशु नहीं मान पाता...मैं समझता हूँ कि यह खोज व्यक्ति से बाहर उस समाज में भी होनी चाहिए जिसका कि व्यक्ति अंग है, तभी कामोबेश

1. 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. – 104
2 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ – 104

ठीक तसबीर सामने आयेगी, वर्ना गुत्थियाँ गुत्थियाँ ही रह जायेगी।"

इससे सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है कि अमृतराय का दृष्टिकोण प्रगतिशीलता को किस हद तक आत्मसात् करता है। सच तो यह है कि अमृतराय अपने को किसी घेरे मे बाँध लेने के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि जीवन के जहाँ असंख्य कोण हैं वहाँ रचनाकार किसी एक कोण को ही लेकर क्यों बैठे? क्यो अपने उस छोटे से साँचे के बाहर की हर चीज उसके लिए मिट जाये?

अमृत राय[1] मानते हैं, "सहज रचनाकार वह है जो सहज मुक्त भाव से जीवन के मैदानो और गलियो में विचरता है और वैसी ही उन्मुक्त संवेदनाओ से जीवन के प्रति रिऐक्ट करके सहज भाव से लिखता है, जहाँ उसकी एक प्रतिश्रुति अपने रचनाकार मानव के प्रति और दूसरी रचना-वस्तु की आत्मा के प्रति होती है। तीसरी चीज उसे मतलब नही क्योंकि उसे विश्वास रहता है कि अगर ये दोनों चीजे सध गयीं तो रचना अच्छी उतरेगी ही और उसका रसज्ञ पाठक भी मिलेगा ही।"

अमृतराय को शिकायत है कि इस देश के कुछ युवा लेखक मित्रों ने जो अर्थ की दृष्टि से भले निम्न मध्य वर्ग के हों पर मूल्यो के क्षेत्र में इस सड़े-गले महाजनी समाज का झंडा उठाये घूम रहे हैं। पतनशील समाज के पतनशील जीवन-मूल्य। स्वयं उन देशों मे इन पतनशील जीवन-मूल्यो के विरोध में संघर्ष करने वाले तत्व काम कर रहे हैं। उदाहरण के लिए आज जो बुद्धिजीवी और साधारण नागरिक अमरीका की वियतनाम नीति और नीग्रो नीति के खिलाफ आवाज उठा रहे हैं और रोज-ब-रोज बुलन्द होती अुई आवाज में कह रहे हैं कि नीग्रो लोगों के साथ इन्साफ किया जाय और उधर अमरीकी जवानों को वियतनाम से वापस बुला लिया जाय, अमृतराय[2] के शब्दों में, "वे वही लोग हैं जो सामान्य जीवन और संस्कृति के स्तर पर भी अधिक स्वस्थ जीवन मूल्यों के लिए सचेष्ट हैं।" उसी तरह यह भी आकस्मिक नहीं कहा जा सकता कि

1 वही पृ.- 105

2 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. – 105

अभी पिछले दिनो छात्रो, अध्यापको और अन्य बुद्धिजीवियो के जिस ज्वालामुखी का विस्फोट पेरिस मे हुआ था उसने और बातो के साथ-साथ महाजनी अर्थ-व्यवस्था के नाश का भी नारा उठाया था।

अमृत राय[1] के अनुसार, "यह सब कुछ हमारी आँखो के सामने हो रहा है। इसीलिए जरूरी है कि बातो को उनके उचित परिप्रेक्ष्य मे रखकर देखा जाय और समझा जाय कि कौन बात कहाँ से उठ रही है और उसकी सामाजिक भूमिका क्या है। जिसका यह मतलब नहीं कि सत्य पर पर्दा डाला जाय। लेकिन सत्य कभी वैसा एकांगी नही होता जैसा बहुत से नवलेखन मे दिखायी पड़ता है। जटिल मनः स्थिति का सत्य अपने निरूपण के लिए वैसी ही गहरी, अन्तर्भेदिनी संश्लिष्ट दृष्टि की भी माँग करता है।"

यही हाल टेरर या संत्रास-बोध का है। लेकिन अमृत राय[2] लिखते हैं, "संत्रास का कोई एक रूप नहीं है। कहीं कोई संत्रास है और कहीं कोई। कहीं भरे पेट का संत्रास है और कहीं खाली पेट का। दोनों एक चीज नहीं है। उनको अलग-अलग देखने-पहचानने की जरूरत है। आत्महत्याएँ स्वीडेन मे भी खूब होती हैं और हिन्दुस्तान मे भी खूब होती हैं पर हिन्दुस्तान में ज्यादातर जीवन की विषम स्थितियों के कारण होती हैं और स्वीडेन में अधिक से अधिक सुख-सुविधाओं के बावजूद होती हैं और समझने की जरूरत है कि क्यों होती हैं। लेकिन और जो भी बात हो या न हो, इतना तो तय है कि दोनों एक ही चीज नहीं हैं और चीजों को उनके संदर्भ से काटकर देखने की प्रवृत्ति केवल विफलता और भटकाव की ओर ले जा सकती है, जीवन के स्तर पर भी और साहित्य के स्तर पर भी।"

साम्प्रतिक रूप से कहा जा सकता है कि अमृत राय की दृष्टि का फोकस मार्क्सवादी चिन्तन है। उन्होंने हर कला-धारणा को और जीवन के प्रत्येक बिन्दु को मार्क्सीय दर्शन

---

1 वही, पृ 115

2. वही

के सांचे मे ढालकर देखा है। यहाँ तक कि कलागत सहजता भी उसी से जुड़ी हुई है क्योकि वे यह मानकर चलते है कि उनका सृजन साधारण पाठक के लिए होता है। सहजता की बात उन्होंने दिल से स्वीकारी है, यही कारण है कि स्पष्टता के स्तर पर हिन्दी का दिग्गज से दिग्गज आलोचक भी अमृत राय का कायल है।

अंततः यह कहना गैरवाजिब नही होगा कि आज की कहानी को दिग्भ्रमित होने की स्थिति से बचाने मे अमृत राय का बहुत बड़ा योगदान है, वह भी उस समय जब कहानी अनास्था, कंठा, संत्रास, अजनबीपन के घेरे मे दम तोड़ने लगी थी। सचमुच अमृत राय द्वारा प्रतिपादित एवं परवर्ती कृतित्व मे सम्पादित सहजता के लक्षण ने कहानीपन को पुनरूज्जीवित किया।

जहाँ तक 'सहज कहानी' संबंधी प्रत्यय के प्रगतिशील दृष्टिकोण का सवाल है, तो उपरोक्त तथ्यों और सबूतों से यह सिद्ध होता है कि 'सहज कहानी' संबंधी विचारों के प्रतिपादन के द्वारा अमृत राय ने जहाँ कलावाद का विरोध किया वही साहित्य को समाज के लिए बताया; जहाँ शोषण का विरोध किया वहाँ यथार्थ का पक्षपोषण किया, जहाँ रूढ़िवाद का विरोध किया, वही समष्टिहित का समर्थन किया और कहानी के रूपबंध (वस्तु-रूप) में परिवर्तन की वकालत की।

छठा अध्याय

अमृतराय का अनुवादक व्यक्तित्व और उसके प्रगतिशील वैशिष्ट्य का मूल्यांकन

(क) अनुवाद के लिए कृतियों का चुनाव और उसमें निहित प्रगतिशील रचना-दृष्टि

(ख) अनुवाद के माध्यम से प्रगतिशीलता के वैश्वक स्वरूप की पहचान का प्रयास और उसका रचनात्मक महत्व

अनुवाद का कार्य कठिन ही नही बडा श्रमसाध्य कार्य है। अंग्रेजी का एक मुहावरा है 'ट्रान्स्लेशन प्री सर्वीसेज मास्टरी ऑफ बोथ द लैंग्वेजेज'। अनुवाद के कार्य मे सफल वही होगा जो ग्रंथ की मूल भाषा और अनुवाद की भाषा को संस्कारनिष्ठ शब्द सामर्थ्य मे रूपांतरित कर सके।

सच्चाई यह है कि अनुवाद का कार्य कोश के माध्यम से संभव नही है। उसके लिए आवश्यक है भाषा की मूल प्रवृत्ति को पकड़ना और उसे दूसरी भाषा की मूल प्रवृत्ति के अनुसार रूपांतरित करना।

वस्तुतः मुहावरो का अनुवाद और भी कठिन होता है क्योंकि एक भाषा के मुहावरे दूसरी भाषा में हू-ब-हू नहीं मिल सकते। ऐसी स्थिति में मुहावरों के संदर्भित अर्थ एवं प्रसंग को उतना चोटीला बनाना जितना की मूल में हैं कठिन होता है। कभी-कभी अनुवाद की भाषा से मूल भाषा में ज्यादा सटीक और प्रामाणिक मुहावरे मिल जाते हैं पर संदर्भ भिन्न हो जाता है इसलिए वह फिट नहीं होता। मिसाल के लिए नमक हलाल और नमक हराम में यह भाव छिपा है कि नमक आसानी से सुलभ नहीं होता इसलिए इतने अलभ्य वस्तु को उपलब्ध करने के लिए उस व्यक्ति का आभारी होना चाहिए जो जीवन की नीरसता और स्वादहीनता को सरस और जीने योग्य बनाये। इसका अनुवाद करना कठिन है, किन्तु अमृत राय में यह गुण भी था। अनुवादक की स्थिति बहुत कठिन होती है। वह दो भाषाओं, दो भाषाओं के दो साहित्यों, दो संस्कृतियों, सामाजिकताओं तथा भावबोधों को अनुवाद के द्वारा जोड़ने का कठिन कार्य करता है। सच पूछा जाय तो अनुवादक को अनुवाद के लिए सर्जक की तरह कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। उसे सृजन की तिहरी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जिसके द्वारा वह अपने अनुवाद के औचित्य को समझ सके, कृति के चुनाव की सार्थकता को सिद्ध कर सके, फिर वह अनुवाद की जानेवाली कृति की पूरी समझ को अपने में समेटता है, उसकी संवेदना से संवलित व उद्वेलित होता है। अनुवाद के दूसरे दौर में वह दूसरी भाषा की कृति की संवेदना, संस्कृति व भावबोध का वाहक बनता है। तीसरी प्रक्रिया अनुवादक के सृजन की है।

वह कृति का अपनी भाषा मे पुनः सृजन करता है। चूँकि भाषा बदलने से सदर्भ भी बदल सकते हैं, इसलिए अनुवादक को ध्यान रखना पड़ता है कि संदर्भ न बदले। वैसे तो अनुवादक मूल रचनाकार की तरह ही सृजन करता है, फिर भी वह इस सत्य को नही भुलाता कि वह सर्जक कृतिकार नही, वरन् अनुवादक है।

अमृत राय ने इसी कठिन कार्य को चुनकर अनुवादक के दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वहन किया है। हालांकि अपनी कृतियो की प्रशंसा कम होने से वे दुखी होते हुए कहते हैं, "यह साहित्य की दुनिया बहुत ज़ालिम है मधुरेश भाई...फॉस्ट की सारी किताबे मेरे पास हैं और उसने मुझे अपनी किसी भी पुस्तक के अनुवाद का स्थायी अधिकार दे रखा है...लेकिन यह बहुत कठिन काम है जिससे मिलना कुछ नहीं है...इसलिए इच्छा होने पर भी वैसा कुछ करने का उत्साह नही होता"।[1] यहाँ उल्लेखनीय है कि अमृतराय ने उपन्यास लिखा हो या सम्पादकीय, आलोचना की हो या अनुवाद-सभी में एकात्मकता का एक सूत्र विद्यमान है। वही लेखक का जीवन दर्शन भी है। जो निर्भय होकर दृढ़ आत्मविश्वास के साथ लालच, झूठ, स्वार्थ, अन्याय व अत्याचार के विरूद्ध आवाज बुलन्द करता है। अमृत राय के ही शब्दो में, "अनुवाद का कार्य मेरे मन के बहुत पास रहा है और बहुत शुरू से रहा है। मैं एक मतलब मे बड़ा भाग्यशाली हूँ कि मुझे आजीविका की विवशता के कारण कोई अनुवाद नहीं करना पड़ा। मैंने उन पुस्तकों का अनुवाद किया, जिन्होंने मुझको बहुत गहरे से हिलाया था और मेरे मन में ख्याल आया कि इनको हिन्दी में ला सकूँ, तो बहुत से लोग, करोड़ों लोग जिनकी अँग्रेजी मे रसाई नहीं है, वह अपनी भाषा में पढ़ सकेंगे। मैंने ऐसे बहुत से क्रांतिकारी पुस्तको का अनुवाद किया जिनको करने में मुझको बहुत सुख मिला।"[2]

अमृत राय द्वारा किए गए अनुवाद, अनुवाद मात्र ही नहीं, पुनर्सृजन हैं। उनकी जीवन-दृष्टि मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि है, किन्तु एकांगी नहीं है। वह प्रगतिवादी और प्रगतिशील

1. मधुरेश, 'यह जो आईना है', रामकृष्ण प्रकाशन, सन् 2000 ई0, पृ. – 178
2. 'एक अन्तरग बातचीत–अमृत से', गिरिजा कुमार माथुर, पृ. 92

धाराओ मे भेद नही मानते, बल्कि मार्क्सवादियो की अतिवादिता से परे वे अपने साहित्य मे वास्तविकता को आत्मसात् कर लोकहित व आत्माभिव्यक्ति का समन्वय प्रस्तुत करते हैं। वे संघर्ष की ताप को कलाकार की कला का प्राण मानते हैं। सच्ची कला जनशक्ति द्वारा समर्थित व सापेक्ष होती है तथा लोभ व सभी मतवादो से परे होती है। वह सम-सामयिक परिस्थितियो, किन्तु इतिहास व परम्परा से जुडी होकर, इनके साहित्य का केन्द्र बनती है।

अमृत राय की अनूदित कृतियाँ चाहे वह 'हैमलेट' हो या 'आदि विद्रोही', 'समरगाथा' हो या 'अग्निदीक्षा', 'खौफ की परछाइयाँ' हो या 'फाँसी के तख्ते से' सभी में उनकी कला का चेतनापरक रूप विद्यमान है।

(क) अनुवाद के लिए कृतियों का चुनाव और उसमें निहित प्रगतिशील रचना-दृष्टि :

अमृत राय की अनूदित कृतियाँ भी इनके मूल लेखन की भाँति सामाजिक-शोषण, सामाजिक असमानता व अन्याय के विरोध, मध्य वर्ग की विसंगति तथा आर्थिक-सामाजिक दबावों की अभिव्यक्ति का लेखन है। साथ ही ये कृतियाँ व्यक्ति के अदम्य साहस, शौर्य, दृढ़ता, धैर्य व संघर्ष को उजागर करती हैं। वह संघर्ष जो अभेद्य दीवारों को भेदने के साथ ही अंधेरे को काटता है, मुक्त आकाश व खुली हवा की तलाश में-व्यक्ति- स्वातंत्र्य, अपने स्वत्वों की रक्षा, जीवन के प्रति दृढ़ आस्था द्वारा ज़िन्दगी की सही पहचान करता है।

अमृत राय की अनूदित कृतियाँ भी मूलतः व्यक्ति-स्वाधीनता का उद्घोष करती हैं। वर्गरहित समाज के लिए, नैतिक उत्थान के लिए समाजवादी यथार्थवाद में आगे व्यक्ति स्वातंत्र्य का ही साहित्य है। अमृत राय के साहित्य का मूल स्वर सत्य की खोज है और इस सत्य की खोज के लिए जीवन के समग्र अवरोधक तत्वो के विरोध मे संघर्ष

को स्वीकार किया गया है। अमृत राय कहते हैं, "मैंने ऐसी बहुत सी क्रांतिकारी किताबो के अनुवाद किये, जिनको करने मे मुझको बहुत सुख मिला और दो तरह का सुख मिला एक तो ये कि जैसी रचनाओ को लिखने के लिए मैं अपने को अनधिकारी समझता था, और था भी, वैसी तगड़ी क्रातिकारी रचनाओ के लिये, जो कि मेरे जीवन के अनुभव मे से नही निकलती जिनकी कथा कहने का अधिकारी मैं नही हूँ, लेकिन जिन्हे मैं कहना चाहता हूँ, क्योकि नयी पीढ़ी को उसी तरह की आग लगानेवाली जबर्दस्त चीजे चाहिये तो मैं सबसे पहले हावर्ड फास्ट की ओर आकृष्ट हुआ।"[1]

अमृतराय भाव-बोध व शिल्प दोनो दृष्टियों से फास्ट के बहुत नजदीक पड़ते हैं। हावर्ड फास्ट की ही तरह अमृतराय मे भी कथा कहने की अपार क्षमता है, तथापि कथा कहना उनका ध्येय नही है। हाँ यह अवश्य है कि फास्ट की भाँति अमृतराय ने भी प्रत्येक चरित्र को पूरी संजीदगी से उभाड़ने की कोशिश की है जैसाकि उनके द्वारा अनूदित कृतियों मे देखा जा सकता है।

'खौफ की परछाइयाँ' बर्तोल्त ब्रेख्त कृत 'फीयर एण्ड मिजरी इन थर्ड राइक' का हिन्दी अनुवाद है। यह ब्रेख्त के सात लघु नाटकोंका संग्रह है। यह अनूदित कृति सन् 1952 ई० में प्रकाशित हुई। ब्रेख्त जर्मनी का एक नाटककार था, जिसने विश्व रंगमंच के एक पूरे युग को प्रभावित किया। ब्रेख्त ने थिएटर की परंपरागत धारणाओं के साथ नई धारणाओं को भी सहयुक्त किया तथा उन्हें साम्यवादी धाराओं के साथ जोड़ा और व्यवस्थित किया। उसने नाटक को रोमानी भावुकता से परे मानव समाज के नजदीक लाने की कोशिश की और कल्पना की जगह वास्तविक यथार्थ और सामाजिक यथार्थ को महत्व दिया।

इस संग्रह के नाटकों में हिटलरी खौफ की गहरी काली परछाइयाँ हैं, जो आम जनता को घेरे हुए हैं। भय से संत्रस्त जनता खुलकर सांस नहीं ले सकती। हर आदमी पर शक किया जाता है। यह शक कि "मुझ पर शक किया जाता है, हड्डियाँ सर्द

---

1 'एक अन्तरंग बातचीत–अमृत से', गिरिजा कुमार माथुर, पृ. 93

कर देने के लिए काफी है।"[1]

इसमे संकलित नाटको मसलन- 'घर का भेदी', 'चार चित्र', 'रेडियो का वक्त', 'चुनाव', 'दुर्घटना', 'खैराती अस्पताल', 'भूल-सुधार' आदि सभी मे एक ओर खौफ में ज़िन्दगी व्यतीत करने वाली जनता का चित्र है, तो दूसरी तरफ हिटलरी शासन की बर्बरता का चित्र भी है। अमृत राय[2] ने लिखा है, "हिटलर-जर्मनी आज नहीं हैं, लेकिन विश्व पूँजीवाद, जिसका नेता अमरीका है, अपने वर्ग-स्वार्थो से प्रेरित होकर एक बार फिर उन्हीं फासिस्ट तत्वों को बड़े जोरों से उभार रहा है, जिनका प्रतिनिधित्व उस समय हिटलर ने किया था। एक बार फिर वही अन्धा युद्धोन्माद, वही बर्बरता तेजी से सर उठा रही है और दुनिया विनाश के कगार पर आ खड़ी हुई है। फासिज्म और युद्ध एक ही सिक्के के चित-पट हैं और आज उस सिक्के का नाम डालर है। डॉलरी कूटनीति सभी देशों में जहाँ-जहाँ उसकी घुसपैठ हो पाती है, अपने इसी कुचक्र को फैला रही है। इसी अर्थ में हिटलर मर के भी नही मरा है, और इसी अर्थ में इन नाटिकाओं की युगीनता आज भी ज्यों की त्यों बनी है। लोकमंगल के लिए जन-मानस को उद्‌बुद्ध और क्रियाशील करने के क्रांतिकारी उद्देश्य से ही इन नाटिकाओ का सृजन हुआ था और इसी प्रेरणा से आज इस पुस्तिका के नये-नये संस्करण बराबर निकलते रहे हैं।"

सन् 1952 ई0 में ही अमृतराय ने जूलियस फूचिक कृत 'नोट्स फ्राम द गैलोज' का हिन्दी अनुवाद **'फाँसी के तख्ते से'** शीर्षक से किया। चेकोस्लोवाकिया के अमर शहीद जूलियस फूचिक की डायरी जो उसने फाँसी की कोठरी में राक्षसी यंत्रणाओं के बीच हिटलरी जल्लादों की नज़र बचाकर लिखी और बाहर भेजी, एक अपूर्व साहस और देश-प्रेम की गाथा है।

जूलियस फूचिक चेकोस्लोवाकिया का पत्रकार, साहित्यकार, आलोचक और कम्युनिस्ट नेता था। वह चेकोस्लोवाकिया की गैर कानूनी कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यकर्ता तथा पार्टी

1 'अमृत के अनुवाद : अनुवाद नहीं पुनर्सृजन', डॉ कमल कुमार
(कृति साहित्यकार अमृत राय'–स.—कृष्णबिहारी मिश्र, हस प्रकाशन, में सकलित)
2 अमृत राय, खौफ की परछाइयाँ, हस प्रकाशन, पृ 7 (भूमिका से)

के प्रमुख पत्र का संपादक था। अपनी गैर-कानूनी कार्रवाइयो के कारण गेस्टापो द्वारा गिरफ्तार किया गया। उसे यंत्रणाएँ दी गयी और चालीस वर्ष की उम्र में ही मार डाला गया। फासिज्म की बर्बरताओ का ब्योरेवार वर्णन इस किताब मे है, जिसे फूचिक पार्टाक्रास जेल में हिटलरी जल्लादो के खौफ की छाया तले भी लिखता रहा था।यंत्रणाओं के बीच पेसिल से लिखी गयी डायरी की कागजी कतरने चोरी-चोरी से बाहर एक हमदर्द सन्तरी की सहायता से लायी गयी थी और बाद मे फूचिक की पत्नी ने उन्हे संकलित करके इसे पुस्तक का रूप दिया। यह विश्व के लिए एक प्रेरणादायी कृति सिद्ध हुई। अमृत राय संघर्ष को कला व जीवन का प्राण मानते हैं। आत्म विश्वास और साहस के साथ अन्याय व अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाना ही जीवन का ध्येय है। अमृत राय को इस कृति ने बेहद प्रभावित किया।

निकोलाई आस्त्रोवस्की कृत 'हाउ द स्टील वाज टेम्पर्ड' का अनुवाद अमृत राय ने सन् 1954 ई० में 'अग्निदीक्षा' नाम से किया। **'अग्निदीक्षा'** जिस आधुनिक रूसी उपन्यास का अनुवाद है, उसने नौजवानो की दो-दो पीढ़ियों के जीवन को दिशा दी है, शक्ति दी है। आस्त्रोवस्की का यह आत्मचरितात्मक उपन्यास एक ऐसे वीर के जीवन-संघर्ष की कहानी है जो सहज प्रतीक बन जाया करते हैं, तभी तो अमृतराय ने भी समर्पित किया है–"देश के प्रति निष्ठा और समर्पण की यह अद्भुत कहानी अपने देश की नयी पीढ़ी को।"[1]

इस कृति में एक साहसी वोल्शेविक पावेल कोर्चेगन के साहस की गाथा है, मजदूरों के संघर्ष की कहानी है। यह एक ऐसे नायक के जीवन की कहानी है जो अपने कलुषित परिवेश के विरूद्ध संघर्ष करता है, अपने परिवेश और समाज में नयी व्यवस्था लाने की आवश्यकता को पहचानता है। उसे मालूम है कि समाजवाद के लिए जनता का संघर्ष सामाजिक जीवन के मूलाधारों को बदलकर एक नयी सामाजिक चेतना को जन्म देगा। इन सामाजिक आदर्शों के लिए आत्मोत्सर्ग की अनिवार्यता है, जिसे नायक निभाता

1 'अग्निदीक्षा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 6

है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए, आम आदमी के अधिकारो के लिए साम्यवादी क्रान्ति के साथ जुड़ा रहा। इस कृति (उपन्यास) पर टिप्पणी करते हुए एना वेन्त्रोव ने लिखा है–"आग्निदीक्षा नये मानव के जन्म की कहानी है, समाजवादी युग के उस मनुष्य की जो मानवता के सुख के लिए होनेवाले संघर्ष मे सबकुछ करने की योग्यता अपने अंदर दिखलाता है जो बड़े-बड़े काम अपने सामने रखता है और उन्हे पूरा करके दिखलाता है।"[1]

सच पूछा जाय तो इस उपन्यास मे पावेल कोर्चेगन की वीरता रूस के मजदूर वर्ग के अंदर निहित वीरता है। इस वीरता की प्रकृति पावेल कोर्चेगन की जिन्दगी के हर नये दौर के साथ बदलती जाती है। गृह-युद्ध के दिनो में ऊँचे आदर्शो के लिए उसके भीतर जो आत्मोत्सर्ग की भावना रहती है उसी से उस सजग कम्युनिस्ट-आत्म अनुशासन का जन्म होता है जो जनता के लिए एक उदाहरण बनता है। उपन्यास के इसी उद्देश्य के कारण अमृत राय का झुकाव इस उपन्यास के अनुवाद की तरफ हुआ क्योकि अमृत राय की जीवन-दृष्टि भी मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि रही है।

अमृत राय ने सन् 1955 ई0 मे हावर्ड फास्ट कृत 'स्पार्टकस' का हिन्दी अनुवाद **'आदि विद्रोही'** नाम से किया। वह एक अंधकार युग था, जब ईसा से 73 वर्ष पूर्व रोम के एक गुलाम स्पार्टकस ने आजादी का सपना देखा था और इतिहास मे प्रथम बार संगठित विद्रोह किया था। तत्कालीन रोमन समाज की पृष्ठभूमि में उसी आदि विद्रोही की रोमांचकारी कहानी प्रसिद्ध अमरीकी यहूदी लेखक हावर्ड फास्ट ने अपनी अनुपम शैली में कही है। वस्तुतः जो भी पद-दलित है, जिस पर भी अन्याय और अत्याचार होता है, उसके साथ अमृत राय की सक्रिय सहानुभूति है, वह कहीं का भी हो, इसी का परिणाम है यह अनुवाद। अमृत राय[2] ने 'आदिविद्रोही' की भूमिका मे लिखा है–"फास्ट की कृतियों में बहुत बार यह संघर्ष स्थूल भौतिक दृष्टि से पराजित

1 'अग्निदीक्षा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 11 (भूमिका से)

2 अमृत राय, 'आदि विद्रोही', पृ 12 (भूमिका से)

होता है, विद्रोह असफल रहता है और उसके नायक गोली से उडा दिया जाते हैं, सलीब पर टाँग दिये जाते हैं, मैदान मे खेत रहते हैं। तब भी उन विद्रोही, संघर्षकारियो, योद्धाओ की अंतिम विजय में हमारी आस्था कभी नही खोती और पुस्तक समाप्त करने पर मन जहाँ गहरी उदासी से भरा होता है वहाँ उस उदासी में और सब कुछ हो पर निराशा का रंग नही होता। साहित्य की कीमियागरी शायद यही है, जो हार को जीत मे परिणत कर देती है। संघर्ष की असल पराजय आत्मा की पराजय है और सभी श्रेष्ठ मानवतावादी कलाकारो की भाँति हावर्ड फास्ट के यहाँ भी आत्मा कभी पराजित नही होती, उसका अजेय स्वर कभी मन्द नहीं पड़ता ।''

इस उपन्यास का नायक स्पार्टकस, जो गुलाम है और आजादी के लिए मर मिटता है, का संदेश बहुत महत्त्वपूर्ण है–''दुनिया उस तमाम दौलत और तमाम शान-शौकत से तंग आ चुकी है, जो तुमने हमारे खून और हमारी हड्डी से निचोड़ा है। दुनिया कोड़ो का संगीत सुनते-सुनते तंग आ चुकी है। ...शुरू में सब लोग बराबर थे और शांति से रहते थे और जो कुछ उनके पास था उसे आपस में बाँट लेते थे। मगर अब दो तरह के लोग हैं–एक मालिक और एक गुलाम-और हम तुमसे मजबूत हैं, तुमसे अच्छे हैं, तुमसे नेक हैं।...जिन्दगी को तुमने कितना गन्दा बना दिया है। इन्सान जो भी सपने देखता है उन सबका तुम मखौल उड़ाते हो। ...तुमने इन्सान की जिन्दगी को एक मजाक बना दिया है और उसकी सारी खूबसूरती लूट ली है...जब न्याय हो चुकेगा तब हम आज से अधिक सुन्दर नगर बनायेंगे। साफ, सुथरे, खूबसूरत नगर जिसमे दीवारें न होंगी, जहाँ मानवता शांति से और सुख से रह सकेगी।''[1]

अमृत राय को स्पार्टकस का जीवन-संघर्ष बहुत प्रभावित करता है, क्योंकि स्पार्टकस लोगों को अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध लड़ने की शक्ति देता है। ''जो पददलित है, जिस पर भी अन्याय और अत्याचार होता है उसके साथ इस लेखक की सक्रिय सहानुभूति है, वह व्यक्ति या समूह कहीं का हो, कोई हो, किसी वर्ग का हो, किसी

1. 'आदि विद्रोही', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 237–39

जाति का, किसी देश, किसी युग का।"[1]

अमृत राय ने सन् 1965 ई० में शेक्सपियर के नाटक **'हैमलेट'** का हिन्दी अनुवाद किया। उल्लेखनीय है कि यूरोपीय पुनर्जागरण तथा नये मानवतावाद का स्रोत 'हैमलेट' ही है। 'हैमलेट' की समस्या किसी व्यक्ति विशेष की समस्या नही है। सच मायने मे भ्रष्ट, आदर्श, नैतिक, सांस्कृतिक संकट, पराजय व निराशा तथा मानव-मूल्यो के अवमूल्यन के विकट समय मे 'हैमलेट' जीवन के शाश्वत मूल्यो की ओर निर्देश करता है।

हैमलेट का पिता मर चुका है। वह आत्मा के रूप मे आकर हैमलेट को अपनी मौत का रहस्य बताता है। वह रहस्योद्घाटन करता है कि किस तरह उसके चाचा ने उसके कान मे जहर डालकर उसे मार डाला और डेनमार्क का शासक बन गया साथ ही, रानी को भी अपनी वासना का शिकार बना लिया।

हैमलेट यह सुनकर कांप उठता है और पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने की सोचता है, लेकिन अंत त्रासदपूर्ण होता है। राजा,रानी, हैमलेट सब-के-सब दिवंगत हो जाते हैं।

अमृत राय[2] ने लिखा है, "हैमलेट मेरा बहुत प्रिय नाटक है और मुझे लगा कि इस समय हमारे समाज के लिए उसका विशेष निवेदन है। अन्याय के कुचक्र में हम फँसे हैं और हमारा विवेक दिग्भ्रमित है। क्या करूँ, क्या न करूँ वाली हैमलेट की मनः स्थिति हममें से एक-एक की है। नाटक अपनी विशिष्ट भाषा मे हमसे इसके संबंध में कुछ कहता है-हैमलेट में यूरोपीय पुनर्जागरण का मानवतावादी स्वर सबसे अधिक शक्ति और गरिमा के साथ आया है।"

वस्तुतः वर्तमान के त्रासद, संत्रासपूर्ण व द्वन्द्वात्मक मनः स्थितियों के संदर्भ मे हैमलेट की उपादेयता के कारण ही अमृत राय ने अनुवाद के लिए इसका चुनाव किया है।

अमृत राय ने सन् 1969 ई. में हावर्ड फास्ट कृत 'माई ग्लोरियस ब्रदर्स' का हिन्दी अनुवाद **'समरगाथा'** नाम से किया। 'समरगाथा' फ़िलिस्तीन के उन मुट्ठी भर

---

1 वही, पृ 6 (भूमिका से)

2 अमृत राय, 'हैमलेट', हंस प्रकाशन, पृ. 6 (भूमिका से)

यहूदी किसानों की कहानी है, जिन्होने अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शामी और यूनानी विजेताओ के विरूद्ध विद्रोह किया। तीस वर्षो तक चलने वाला यह स्वाधीनता-संघर्ष पराक्रम और स्वतंत्रता की दृष्टि से मानव के इतिहास की अद्वितीय घटना है। यह स्वतंत्रता का पहला संग्राम था।

हावर्ड फास्ट का कहना है, "इस प्राचीन विद्रोही परम्परा का पुनः स्मरण आवश्यक भी है और मूल्यवान भी। ...अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करना सबसे सच्ची आस्तिकता है।"[1]

शायद यही कारण है कि अमृत राय ने इस अनुवाद को उन वीरों को समर्पित किया है–"जो मनुष्य की स्वाधीनता और स्वाभिमान की उसी पुरानी लड़ाई मे आज वियतनाम में अपने प्राणों की आहुति दे रहे हैं।"[2]

अमृत राय ने सन् 1989 ई0 में हावर्ड फास्ट कृत 'पैशन ऑफ सैको एण्ड वेन्जेटी' का हिन्दी अनुवाद '**शहीदनामा**' नाम से किया। 'पैशन ऑफ सैको एण्ड वेन्जेटी' अमरीका के दो मजदूर शहीदों की कहानी है, जो समानता और भाईचारे के लिए जिये और इन्हीं जीवन-मूल्यों के लिए शहीद हो गये। अमृत राय की रस-सिद्ध लेखनी द्वारा अनूदित यह कृति मूल कृति की तरह जीवन्त है।

सैको और वेन्जेटी मजदूर आन्दोलन के पुरोधा बने और उन्होंने मजदूरों को उनके अधिकारों के प्रति सजग किया। इन दोनों को कत्ल के फर्जी मुकदमें में फाँसी की सजा हुई जिससे दुनिया हिल जाती है। प्रदर्शनों, जुलूसों का कोई लाभ नहीं होता और ये नवयुवक मजदूर मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। शासक वर्ग की मान्यता है कि इन्हें मौत के घाट उतारने से दूसरे लोग अधिकारों के लिए आगे नहीं बढ़ेंगे। लेकिन बकौल लेखक उनका यह भ्रम है, जिसे वह इस कृति में रेखांकित करता है।

अमृत राय ने '**चतुरंग**' नाम से विश्व की कुछ बहुचर्चित कहानियों को अनूदित कर प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उदाहरणार्थ, जॉन स्टाइनबोक की अनूदित

---

1. 'समरगाथा', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 6 (भूमिका से)
2. वही, पृ. 5 (अनुवादक के समर्पण से)

कहानी 'गुलदाउदी', अर्नेस्ट हेमिंग्वे की 'साफ सुथरी रौशन जगह', हेनरी मिलर से अनूदित 'एक बाजारू लडकी' आदि।

'नूतन आलोक' नाम से अनूदित कहानी संग्रह मे–तिड. लिड. कृत 'नूतन आलोक', चुनचानमे कृत 'मेरे चाचा और उनकी गाय', पियोत्तर पावलेको कृत 'जिन्दगी', ग्रात्सिका देलेदा कृत 'माँ', वेलेताइन कतामेफ कृत 'उनका झण्डा', अर्न्स्टटोलर कृत 'यंत्रणागृह', कॉरूतांतिन सिनोनोक कृत 'उसका इकलौता बेटा', अलेक्जैण्डर कुप्रिन की 'दलदल', राबर्ट वकलैण्ड की—'सड़क की लम्बाई', बेला बलाज की 'एक सर्वियन गाथा', फ्रीड्रिक वुल्फ की 'किकी' आदि कहानियाँ संकलित हैं।

'खरगोश', 'श्वेत माँ' और 'दल-दल' इन तीन कहानियो को छोड़कर बाकी सब फासिस्ट विरोधी कहानियाँ हैं। 'सडक की लम्बाई' की कथावस्तु प्रजातांत्रिक स्पेन की फ्रेंको-विरोधी लड़ाई से ली गयी है। 'यंत्रणागृह' में फासिज़्म के गढ़ जर्मनी की एक छोटी सी तस्वीर अर्न्स्ट टोलर ने दी है, जिसकी पुस्तकों पर हिटलर ने रोक लगा दी थी, जिसे ऐसा साहित्य रचने पर ही देश-निकाला मिला था। 'नूतन आलोक' और 'चाचा की गाय' की पृष्ठभूमि जापानी अभियान के प्रतिरोध में रत चीन है।

अमृत राय[1] ने इन कहानियों के प्रयोजन पर लिखा है, "जिन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों मे फासिज्म का जन्म होता है वे काफी हद तक आज भी वर्तमान हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि इन कहानियों की रचना के मूल में अगर किसी तात्कालिक आवश्यकता की प्रेरणा थी तो वह तात्कालिक आवश्यकता आज भी है, अन्तर केवल इतना है कि राक्षस का चोला दूसरा है और वह कुछ भिन्न रूप धरकर आया है। मगर रूप के मोह मे पड़ने का अर्थ विनाश होगा।"

इन कहानियों की एक विशेषता नवीन विश्व-दर्शन है। इसके बारे में अमृत राय[2] लिखते हैं, "स्नेह के कुछ नये मान, भाव-गाम्भीर्य की नयी क्रांतिकारी इकाइयाँ, कर्त्तव्य

1. अमृत राय, 'नूतन आलोक', हंस प्रकाशन, पृ. 208
2 वही

और मोह के चिरन्तन द्वन्द्व का क्रांतिकारी समाधान, सामान्य से कुछ ऊँचे धरातल पर उठे हुए मानव-संबंध यही मेरी समझ से इन कहानियो का बिल्कुल नया क्रांतिकारी स्थायी तत्व है जो कभी किसी काल मे बासी न होगा।''

ध्यातव्य है कि अमृत राय ने अंग्रेजी के साथ-साथ बांग्ला साहित्य से भी अनुवाद कार्य किया, जिसमे रवीन्द्रनाथ के निबंधो का अनुवाद मुख्य है। बंग्ला से किया गया यह अनुवाद अत्यंत जीवन्त, सहज, आकर्षक एवं प्रभावशाली है।

(ख) अनुवाद के माध्यम से प्रगतिशीलता के वैश्वक स्वरूप की पहचान का प्रयास और उसका रचनात्मक महत्व

अमृत राय की रचनात्मकता का मूल स्वर व्यक्ति-स्वातंत्र्य, समाजवादी दर्शन, वर्गरहित समाज तथा उसके परिवर्तन में है। इसी विचारधारा का विकास उनकी अनूदित कृतियो में है, फिर चाहे हावर्ड फास्ट हों, ब्रेख्त या शेक्सपियर और फूचिक हों। अमृत राय ने कला की धारणा व जीवन को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा और परखा, साथ ही लेखन को दायित्वपूर्ण, समाज सापेक्ष माना तथा सिद्ध भी किया। उल्लेखनीय है कि अमृत राय ने उन्हीं पुस्तकों का अनुवाद किया, जिनमे जीवन-संघर्ष की भावना, आदर्शपरक जीवन-दृष्टि, त्याग और बलिदान के साथ समाजवादी समर्थन हो।

अमृत राय द्वारा अनूदित कृति 'अग्निदीक्षा' में नायक अपने कलुषित परिवेश के विरूद्ध संघर्ष करता है। अपने परिवेश व समाज मे नयी व्यवस्था लाने की आवश्यकता को पहचानता है। वह जानता है कि समाजवाद के लिए जनता का संघर्ष सामाजिक जीवन के मूलाधारों को बदलकर एक नयी सामाजिक चेतना को जन्म देगा। इन ऊँचे सामाजिक आदर्शो के लिए नायक आत्मोत्सर्ग करता है। पावेल की ज़िन्दगी खतरे मे रहती है, मगर वह अपने साहस, दृढ़ता धैर्य व संकल्प के साथ असम्भव को संभव कर दिखाता है। वह आजीवन विरोधी शक्तियों से टकराता रहा, उनके साथ बहा नहीं,

निराश नहीं हुआ। दुःखों, कष्टों से जूझते हुए अपना रास्ता बनाया। न्याय पावेल का अभीष्ट था। उसका जीवन उत्साह, आकांक्षा व अनन्त सौन्दर्य का जीवन था। ऐसे लोग वास्तव मे कभी नही मरते। 'अग्निदीक्षा' नये मनुष्य के जन्म की कहानी है, जो हमारे सामाजिक यथार्थ से जुड़कर चलती है।

'आदि विद्रोही' में लगभग एक शताब्दी ईसापूर्व के रोम और उसकी पाशविक गुलाम-प्रथा की गाथा है। अमृत राय लिखते हैं, "सही मायने मे जो एक यथार्थवादी ऐतिहासिक उपन्यास है वह उस युग को सजीव इस अर्थ में भी करता है कि वो उस समाज की संचालक शक्तियों को खोलता है कि समाज इस तरह से आगे बढ़ रहा था तो क्यों बढ़ रहा था और उसकी क्या परिणति होनी थी। ये काम मैं नहीं समझता कि हावर्ड फास्ट की तरह से, इतनी खूबसूरती से बहुत लोगों ने किया होगा, शायद किसी ने नहीं किया।"[1]

'आदि विद्रोही' में उद्योग, अनुशासन, मितव्ययिता, व्यवस्था के नाम पर फैली भयंकर अव्यवस्था, वैभवपूर्ण जीवन की वीभत्सता के सजीव चित्रण हैं। अमृत राय के सशक्त तीव्र चित्रणों पर पाठक फिसलता चलता है। विविध सजीव सप्राण तथा गत्यात्मक चित्र हैं जो अनोखे हैं, मौलिक हैं। भावात्मकता की जो कभी हावर्ड फास्ट की मूल रचनाओं में खटकती है वह अमृत राय की अनूदित रचनाओं में नहीं। मानव के कष्टों के प्रति लेखक की गहरी सहानुभूति सामाजिक न्याय की अनिवार्यता, व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रति लेखक का गहरा विश्वास उसके साहित्य का वाहक है।

'समरगाथा' को अमृत राय ने महाभारत का रूपक दे दिया है। यह फिलिस्तीन के उन मुट्ठी भर यहूदी किसानों की कहानी है, जिन्होंने अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए विद्रोह किया। इस उपन्यास का संदेश प्रकारांतर से यही है कि जीवन एक महान संघर्ष है। व्यक्ति स्वतंत्रता के अवरोधक तत्वों के विरोध में, परिवर्तन के लिए, विकासक्रम के लिए संघर्ष ही एकमात्र विकल्प है। शोषण के विरोध में साहस,

1 'एक अन्तरग बातचीत–अमृत से', गिरिजा कुमार माथुर, पृ. 93

शौर्य, त्याग, संगठन व संघर्ष द्वारा कृतसंकल्प होना ही जीवन का ध्येय है।

'शहीदनामा' मजदूर आंदोलन की गाथा है। इटली से आकर अमरीका में बसे हुए लोगो मे दो मजदूर अपनी परिस्थितियों के खिलाफ संघर्ष का बिगुल बजाते हैं, पर इस बिगुल को ठंडा करने के लिए इन दोनो को फाँसी दे दी जाती है। उस समय मजदूरों पर काफी अत्याचार होते हैं, उनके अधिकार नहीं दिये जाते। 'शहीदनामा' शीर्षक इन परिस्थितियों में सार्थक लगता है।

'हैमलेट' नाटक की कोई काल-सीमा नहीं है। किसी देश की परिधि से भी नही बँधा है, अपितु यह ज़िन्दगी का दर्पण है, आज भी इसकी प्रासंगिकता अक्षुण्ण है। यह सर्वविदित है कि यूरोपीय पुनर्जागरण तथा नव मानवतावाद का स्रोत 'हैमलेट' ही है। हैमलेट की समस्या किसी व्यक्ति विशेष की समस्या न होकर वैश्वक व गंभीर समस्या है, जिसके लिए व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है।

'खौफ की परछाइयाँ' खौफ मे जीने वाले लोगों की सच्चाई है। आज की आक्रामक दुनिया में जहाँ मानव को कटु तथ्यों को झेलना पड़ता है, वहाँ की जिन्दगी का सच यही है। ब्रेख्त ने कल्पना का विरोध कर वास्तविक यथार्थ सामाजिक यथार्थ को ही माना। इसमें वातावरण पूरी तरह खौफ के घेरे में है। अमृत राय[1] ने लिखा है, "आज से चालीस साल पहले जब मैंने इन नाटिकाओं का अनुवाद किया था, तब बर्तोल्त ब्रेख्त मेरे लिए और शायद यहाँ के लोगों के लिए भी एक नया नाम था। तब लड़ाई चल रही थी और जर्मनी के ही एक नाटककार की कलम से निकली हुई हिटलर जर्मनी की इन तस्वीरों ने अपने तीखेपन और जोर से बरबस मुझे अपनी ओर खींच लिया था।"

'फाँसी के तख्ते से' एक ऐसी कृति है जो जेल की सलाखो में डायरी के पन्नो पर लिखी गयी है। फूचिक को फाँसी की सजा दी गई, लेकिन उसकी भविष्यवाणी उसकी मातृभूमि चेकोस्लोवाकिया का जीवित यथार्थ बनी। अमृत राय ने तत्कालीन परिस्थितियों पर लिखे गये उपन्यास को अनूदित कर (संघर्षशील उपन्यास) को हमारे

1. अमृत राय, 'खौफ की परछाइयाँ', हंस प्रकाशन, पृ 7 (भूमिका से)

वतन के लिए भी सहज और सुलभ बना दिया है, जो हमे जुल्म के खिलाफ संघर्ष की प्रेरणा देता है। फूचिक की भावना द्रष्टव्य है-"लोगो, तुम क्या सोचते हो कि अगर यह सब तूफान गुजर जाने के बाद फिर कभी हमारा मिलन हुआ तो हमारी जिन्दगी की क्या शकल होगी? फिर आजादी की हसीन जिन्दगी मे मिलना, जिसमे सबकी आजादी से एक नयी दुनिया का जन्म हो रहा है जबकि हमे वह चीज मिल जायेगी, जिसकी कि हमें चाह थी, जिसके लिए हमने इतने धीरज से काम लिया और अब जिसके लिए हम मौत को गले लगाने जा रहे हैं। मरने के बाद भी तुम्हारे उस महान सुख के एक अंश मे हम जीवित रहेंगे, क्योंकि उसके लिए हमने अपने प्राणो की आहुति दी है। 'उसी में हमारी खुशी है, मगर अलग होना बड़ा कठिन है।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अमृत राय ने उन्हीं उपन्यासों को चुना है, जो सामाजिक न्याय, सत्य, संघर्ष को प्रकट कर विश्व-शांति के लिए प्रयासरत् हैं। ऐतिहासिक यथार्थ से ही हम अपने भविष्य को सुधार सकते हैं, यही सन्देश लेकर अमृत राय अपने अनुवाद साहित्य को किसी सीमा-रेखा में नही बाँधते। ऐसे साहित्य हर युग-हर काल के लिए प्रासंगिक होते हैं।

निष्कर्ष यह कि अमृतराय का संपूर्ण अनुवाद साहित्य इस बात का साक्षी है कि वे न तो जीवन के तटस्थ द्रष्टा रहे हैं और न संघर्षों से पलायन कर कल्पना के लोक में शरण लेने वाले। उन्होंने आगे बढ़कर सामाजिक संघर्षों में भाग लिया है। और जीवन के सहज प्रवाह से सदैव अपने को जोड़े रखा है। कुल मिलाकर यह कहना ज्यादा समीचीन होगा कि अमृतराय ने अनुवाद के माध्यम से प्रगतिशीलता के वैश्वक स्वरूप की पहचान का जो प्रयत्न किया है उसका विशिष्ट रचनात्मक महत्त्व है। वास्तव मे उनके अनुवादक व्यक्तित्व की संपन्नता के कारण उनका मौलिक लेखन कुछ कम प्रशंसित हुआ, जैसा कि आलोचक मधुरेश[2] ने लिखा है, "फॉस्ट के उनके किए दो उपन्यासो

1 फॉसी के तख्ते से', अमृत राय, हंस प्रकाशन, पृ. 57

2. मधुरेश, 'यह जो आईना है', रामकृष्ण प्रकाशन, सन् 2000 ई, पृ 178

के अनुवाद छपे थे और उनकी प्रशंसा का नुकसान उनके लिए यह हुआ था कि लोग उनके मौलिक लेखन को नकार कर उन्हें सिर्फ अनुवादक ही मानने लगे थे।''

लेकिन लक्ष्मीकांत वर्मा[1] का मानना है ''प्रारम्भ से ही अमृत राय जी एक कुशल अनुवादक माने जाते रहे हैं। ...वैसे इस कार्य की दक्षता उनको मुंशी प्रेमचंद से मिली थी। फ़सानये आजाद का मुंशी जी का अनुवाद काफी लोकप्रिय माना गया है।''

उनके अनुवादक व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए डॉ. राजेद्र कुमार[2] ने लिखा है, ''अनुवाद के क्षेत्र में पाँव रखना आज का नया से नया लेखक प्रायः अपनी मौलिकता की शान के खिलाफ समझता है। अमृत जी ने अनुवाद के कार्य को भी अपने लेखन-क्षेत्र की प्राथमिकताओं में ही रखा। उसे कभी दोयम दर्जे का काम नहीं माना। हावर्ड फास्ट की कृति 'स्पार्टकस' का 'आदि विद्रोही' नाम से जो सजीव अनुवाद वे कर सके, वह संभव ही न होता अगर उन्होंने अपने मौलिक लेखन जैसा ही उत्साह उस अनुवाद कर्म में महसूस न किया होता। यह उत्साह उनमें उनके जीवन के अंतिम दौर तक अक्षुण्ण रहा। अंगरेजी में लिखी गई अपनी खुद की कृति 'अ हाउस डिवाइडेड' के अनुवाद में उनकी तत्परता (जिसे दुर्योग से पक्षाघात ने बाधित और फिर मृत्यु ने निश्शेष कर दिया) भी इसी उत्साह का प्रतिफल थी।''

जो भी हो इतना तो बेहिचक कहा ही जा सकता है कि अमृत राय ने संसार की जिन बहुचर्चित कृतियों का अनुवाद किया है वे कृतियाँ उनके मूल कृति की भांति सामाजिक-आर्थिक शोषण, असमानता, अन्याय का प्रतिषेध, मध्यमवर्ग की विसंगति और सामाजिक आर्थिक दबावों एवं विद्रोह की अभिव्यक्ति है। ये अनुवाद मनुष्य के शौर्य, धैर्य, दृढ़ता, साहस एवं संघर्ष की पृष्ठभूमि पर ही आधारित हैं।

❋ ❋ ❋

---

1 लक्ष्मीकात वर्मा—'श्री अमृत राय', हिन्दुस्तानी, भाग–57, अंक–3–4, पृ. 170

2. डॉ. राजेन्द्र कुमार—'अमृत राय : अपना विवेक ही जिनका सबसे अच्छा जीवन–सहचर था', हिन्दुस्तानी, भाग–57, अक–3–4, पृ 183

सातवाँ अध्याय

उपसंहार

'प्रगतिशीलता' एक ऐसा 'पद' (टर्म) है जिसमे प्रगति कोरी गतिशीलता का नाम नही है, अपितु विशिष्ट दिशा में आगे बढ़ने का नाम ही प्रगति है, अर्थात् सोद्देश्यता प्रगति की पहली निशानी है। प्रगतिशील साहित्य प्रगतिवाद की सीमाओ के त्याग एवं शक्ति के ग्रहण का आग्रह करता है। आलोचकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो प्रगतिवाद और प्रगतिशील मे जान-बूझकर कोई भेद स्वीकार नही करता। प्रायः प्रगतिवाद और प्रगतिशीलता दोनो को 'मार्क्सवाद' से जोड़कर देखा जाता है। एक ऐसा भी वर्ग है जो अनजाने में प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य का बारम्बार प्रयोग करता है लेकिन इनके भेद-अभेद की ओर संभवतः उनका ध्यान ही नहीं गया।

स्वयं अमृत राय के लिए भी मार्क्सवाद एक खुला एवं गतिशील दर्शन है। कुछ आलोचकों में यह धारणा है कि प्रगतिशील लेखक का मार्क्सवादी होना आवश्यक है लेकिन अमृत राय सभी साहित्यकारो से मार्क्सवादी बनने की अपेक्षा नहीं रखते। जीवन के प्रति सच्चा बनने की अपेक्षा रखते हैं। वह मानते हैं कि दर्शन जीवन से बड़ा नहीं होता और आलोचक के लिए यह समझना और भी जरूरी है, अन्यथा उसकी आलोचना एकांगी होगी या पक्षपातपूर्ण।

प्रगतिशीलता के सैद्धांतिक आधार की तह में प्रगति-चेतना के कुछ मानदंड हैं। कलावाद का विरोध प्रगति-चेतना का पहला मानदंड है। सामाजिक प्रतिबद्धता प्रगतिशील चिन्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण मानदंड है। शोषण का विरोध प्रगतिशील चिन्तन का तीसरा प्रतिमान और यथार्थ-बोध प्रगतिशीलता का चौथा मानदंड है। प्रगतिशील चिन्तन का पाँचवाँ मानदंड रूढ़िवाद का विरोध है। प्रगति-चेतना के मानदंडो मे कलावाद का विरोध हो या सामाजिक प्रतिबद्धता; शोषण का विरोध हो या यथार्थ-बोध; रूढिवाद का विरोध हो या समष्टि-हित का समर्थन- मूलतः ये सब अनुभूतियाँ हैं, विचार हैं। इनकी सफलता और सार्थकता तभी संभव है जब इन्हे सबल अभिव्यक्ति मिले। अतः अनुभूति और अभिव्यक्ति का चोली-दामन का साथ है। कथ्य में परिवर्तन होने के साथ-साथ शिल्प मे परिवर्तन होता रहता है। अतः प्रगतिशील

कलाकार कथ्य में ही परिवर्तन की आकांक्षा नही करता बल्कि रूपबंध मे भी अनुकूल परिवर्तन करता चलता है।

साहित्य की दुनिया नैतिक मूल्यो की दुनिया है। आर्थिक प्रश्न हो, सामाजिक प्रश्न हो, राजनीतिक सत्ता का प्रश्न हो और चाहे धार्मिक-सांस्कृतिक प्रश्न हो, सर्जनात्मक कृतिकार उन्हें नैतिक मूल्यों के रूप में ही देखता है। इसी से रचना को उसकी संवेदनशीलता मिलती है, जो जितनी ही सच्ची और गहरी होती है उतना ही अपने पाठक के मन का संस्कार करती है। कला अनुभव के साथ बदलती है, उसकी प्रेरक शक्तियाँ अनुभव के साथ बदलती हैं। आज अधिकांश मानव-समाज के अनुभव ऐसे हैं कि दूसरे युगो के व्यक्तिगत विषयों की अपेक्षा सामाजिक और राजनीतिक विषय ज्यादा रोचक, ज्यादा महत्त्वपूर्ण, ज्यादा 'सामान्य' हैं। लेकिन इस सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि लेखक अपनी अनुभूतियों से ही नहीं बल्कि अपने ज्ञान और अपने विचारों और अपने संकल्प से भी रचना करता है। उसकी कृतियों की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है, जो उसकी कृतियो को रूप देती है।

अमृत राय इस बात पर चिंता व्यक्त करते हैं कि आधुनिकता के चक्कर मे देश-काल को भुलाया जा रहा है। वे परंपरामुक्त आधुनिकता के हिमायती नहीं हैं। अस्तित्ववाद के दर्शन पर आधारित आज का जो यह आधुनिक भावबोध है, उसके सत्य से आँख नहीं चुरायी जा सकती। पर अमृत राय का दृढ़ विश्वास है कि वह एक एकांगी दृष्टि है और यह उसकी एकांगिकता का ही आग्रह है, जो उसका पूर्वग्रह बन गया है कि वह मनुष्य का, मनुष्य की नियति का कुत्सित और अंधकारपूर्ण रूप ही चित्रित करता है। आधुनिकतावाद का पक्ष है कि परिवर्तन अनिवार्य है। दूसरी ओर परंपरावाद का पक्ष है कि अतीत ही श्रेष्ठ था, गौरवशाली था। इन दोनों अतियो के बीच यह निष्कर्ष निकालना ही यथोचित होगा कि अपनी जड़ों से कटकर कोई सच्चे अर्थों मे न आधुनिक हो सकता है, न सार्वभौम दृष्टि विकसित कर सकता है। भूमंडलीकरण के इस दौर में हमें ऐसी विश्वव्यापी

संस्कृति की तलाश करनी है तथा विकास करना है जो यथार्थ मे अंतर्राष्ट्रीय भी हो और मानवीय भी हो।

परंपरा और प्रयोग के प्रश्न पर अमृत राय के विचार उनकी प्रगतिशील आस्था को बहुत सही संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। अमृत राय का मानना है कि परंपरा और प्रयोग के संबंध को ठीक से समझने के लिए उन्हे इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे रखकर देखना जरूरी है क्योंकि गति या प्रवाह परंपरा का आवश्यक गुण है। जहाँ गति नहीं प्रवाह नहीं है, वहीं सड़न है, उसी को रूढ़ि कहते हैं। अमृत राय का दृष्टिकोण स्पष्ट है। परंपरा लीक नहीं, बल्कि लीक तो रूढ़ि है। मनुष्य की मनीषा जहाँ लीक छोड़कर साहसपूर्ण प्रयोग करती है, वहीं सच्ची परंपरा का सूत्रपात होता है जिसे हम आज परंपरा के रूप में जानते हैं, वह ऐसे ही साहसपूर्ण प्रयोगों की परंपरा है। सच्चे प्रयोग परंपरा को शक्ति प्रदान करते हैं और वही वास्तविक परंपरा की सृष्टि भी करते हैं। युगान्तरकारी प्रयोगों के माध्यम से ही परंपरा में नित्य नयी कड़ियाँ जुड़ती रही हैं और उन सबको लिये-दिये समय की धारा में छनती-निथरती परम्परा हम तक आती है, इसलिए कि हम भी अपने युगधर्मी प्रयोगों से उसमें नया कुछ जोड़ सकें।

अमृत राय के मतानुसार सच्ची आधुनिकता वह है जो वर्तमान मे खड़ी होकर भविष्य की ओर देखती है। वर्तमान में खड़े होकर अतीत की ओर देखना आधुनिकता नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह समय की धारा को पीछे मोड़ने की, यानी 'प्रतिगामी' क्रिया होगी।

अमृत राय की साहित्य-दृष्टि और साहित्य-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थता ही है। कुल मिलाकर यह कहना तर्कसंगत होगा कि एक विचारक और चिन्तक के रूप में अमृत राय का जो रूप उभरता है, उसमें उनकी प्रगतिशील आस्था ही सर्वाधिक मुखर है। मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और रचना-दृष्टि के प्रति ईमानदार रहते हुए अमृत राय ने कहीं भी जड़ दृष्टिकोण का प्रतिपादन नहीं किया। उनकी रचना-दृष्टि वादग्रस्त साहित्य-चिन्तन न होकर लोकमंगलवादी एक ऐसा साहित्य चिन्तन है, जो इस विचार-दृष्टि की

गरिमा को नये-नये आयाम देता है, जिसके प्रति वे प्रतिबद्ध हैं।

पूँजीवाद का विरोध अमृत राय की कहानियो की मूल भित्ति है। पूँजीवाद को अमृत राय शोषण का पर्याय समझते हैं। शोषण कहीं भी हो रहा हो, जीवन की किसी भी दिशा मे हो रहा हो, किसी भी दशा मे हो रहा हो; किसी भी रूप में हो रहा हो अमृत राय उसका दृढ विरोध करने को प्रतिबद्ध हैं। वे शोषण की प्रकृति का उद्घाटन करते चलते हैं और साथ ही उसका विरोध भी। वे अपनी कहानियों में भूख को सर्वाधिक वरीयता देते हैं। उनका विचार है कि भूख को चाहे खुशहाल मोटे दिलो के दार्शनिक कितनी ही छोटी चीज़ क्यो न समझें लेकिन वह इतनी छोटी चीज़ किसी तरह भी नही है कि सिर्फ मुँह बिचकाकर और कंधे हिलाकर उसका सम्मान किया जा सके।

अमृत राय ने अपने उपन्यासों में सामाजिक यथार्थवाद को अभिव्यक्ति दी। सामाजिक यथार्थवाद का मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद का नाश और वर्गहीन समाज की स्थापना में योग देना है।

अमृत राय ने अपने उपन्यासो में प्रगतिशील कथाकारो की अनेक महत्त्वपूर्ण सीमाओ का अतिक्रमण किया है, साथ ही उन प्रगतिशील लेखकों से असहमति जतायी है जो देश की परिस्थिति को आवश्यकता से अधिक क्रांतिकारी समझते थे।

अमृत राय मनुष्य के बेहतर भविष्य के प्रति आस्थावान हैं जो किसी भी स्तर पर नही डगमगाती है। उन्होंने वर्ग-चेतना से प्रेरित होकर वर्ग वैषम्य से पीड़ित मानव के जीवन की करुण कहानी को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है।

अमृत राय की रचना-दृष्टि सन् 1953 ई0 से सन् 1977 ई0 तक प्रकाशित सात उपन्यासों में व्यावहारिक रूप लेती प्रतीत होती है और यही कारण है कि उपन्यासों के केन्द्र मे यथार्थ ही वस्तुक्षेत्र बनकर उभरा है। चूँकि अमृत राय समाज के प्रति प्रतिबद्ध लेखक हैं, इसलिए वह उन मूल्यों के प्रति आस्थावान हैं, जिन्हे जिन्दा रखने के लिए

मानव सदैव संघर्षरत् रहा है। सच्चाई यह है कि वे अपने उपन्यासो मे सहज एक बड़ी समस्या को तमाम दूसरी समस्याओ के संदर्भ मे उभारकर प्रस्तुत करते रहे हैं वह और कुछ नही वरन् पूरी की पूरी समाज-व्यवस्था को मनुष्य-हित मे बदलने की समस्या है।

अमृत राय की अन्तर्निहित व्यक्तिगत वेदना और उनके सामाजिक सरोकार का, सामंजस्य और पारस्परिक टकराव का सिलसिला 'कलम का सिपाही' (जीवनी) को सर्जनात्मक बनाए रखता है और यही कारण है कि जीवनी एक महाकाव्यात्मक और सर्जनात्मक विशालकाय उपन्यास का सा रूप ले लेती है। वास्तव मे अमृत राय ने जीवनी की रचना इस ढंग से की है कि प्रेमचंद की ज़िन्दगी अपने समय की उथल-पुथल को बेनकाब कर सके।

एक कुशल जीवनीकार की तरह अमृत राय समस्त उपलब्ध सामग्री को पाठकों के सामने अपनी अर्थगर्भी और निष्कर्ष व्यंजक टिप्पणियों द्वारा इस तरह पेश करते हैं कि कहीं भी पाठक की सहज बुद्धि को झटका नही लगता।

अमृत राय द्वारा किए गए अनुवाद, अनुवाद मात्र नहीं, पुनर्सृजन हैं। उनकी जीवन-दृष्टि मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि है किन्तु एकांगी नही है। अमृतराय की अनूदित कृतियाँ भी इनके मूल लेखन की भाँति सामाजिक-शोषण, सामाजिक असमानता व अन्याय के विरोध, मध्य वर्ग की विसंगति तथा आर्थिक-सामाजिक दबावो की अभिव्यक्ति का लेखन है। साथ ही ये कृतियाँ व्यक्ति के अदम्य साहस, शौर्य, दृढ़ता, धैर्य व संघर्ष को उजागर करती हैं। वह संघर्ष जो अभेद्य दीवारों को भेदने के साथ ही, अंधेरे को काटता है, मुक्त आकाश व खुली हवा की तलाश में-व्यक्ति-स्वातंत्र्य, अपने स्वत्वों की रक्षा, जीवन के प्रति दृढ़ आस्था द्वारा ज़िन्दगी की सही पहचान करता है।

अमृत राय की रचनात्मकता का मूल स्वर व्यक्ति-स्वातंत्र्य, समाजवादी दर्शन, वर्गरहित समाज तथा उसके परिवर्तन मे है। इसी विचारधारा का विकास उनकी अनूदित कृतियों में है, फिर चाहे हावर्ड फास्ट हों, ब्रेख्त या शेक्सपियर और फूचिक हो।

अमृत राय का संपूर्ण अनुवाद साहित्य इस बात का साक्षी है कि वे न तो जीवन के तटस्थ द्रष्टा रहे हैं और न संघर्षो से पलायन कर कल्पना के लोक में शरण लेने वाले। उन्होंने आगे बढ़कर सामाजिक संघर्षो में भाग लिया है और जीवन के सहज प्रवाह से सदैव अपने को जोड़े रखा है। कुल मिलाकर यह कहना ज्यादा समीचीन होगा कि अमृत राय ने अनुवाद के माध्यम से प्रगतिशीलता के वैश्वक स्वरूप की पहचान का जो प्रयत्न किया है उसका विशिष्ट रचनात्मक महत्त्व है।

अंततः यह कि 'प्रगतिशीलता' की अवधारणा को व्यावहारिक रूप में सर्जनात्मक और चिंतापरक आयाम देनेवाले साहित्यकारों मे श्री अमृत राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमृत राय स्वयं में एक बहु-आयामी व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होने निरंतर सामाजिक प्रतिबद्धता को अपने लेखन से प्रमाणित करने का प्रयास किया। 'प्रगतिशीलता' के अंतर्गत विचारधारा और अनुभव के अंतस्संबंधों को लेकर वे कई बार अपने समकालीन मार्क्सवादी चिंतकों से असहमति भी व्यक्त करते मिलते हैं। उनका मानना था कि विचारधारा का स्थूल आग्रह लेखन को सतही बना देता है। विचारधारा को रचना मे संवेदनात्मक रूप अगर न प्राप्त हो सके तो वह रचना को निष्प्रभावी ही बनाएगी। इसी प्रकार आधुनिकता और परंपरा के रिश्ते के बारे में भी उनके मत सभी प्रकार के पूर्वग्रहों से मुक्त रहने की आकांक्षा पर आधारित थे। उनके संपूर्ण लेखन में सामाजिक चेतना के स्वस्थ और विकासशील स्वरूप की अभिव्यक्ति के प्रति दृढ़ निष्ठा प्रतिफलित होती है। कथाकार, व्यंग्यकार, सम्पादक, जीवनीकार और अनुवादक-इन सभी रूपों में श्री अमृत राय 'प्रगतिशीलता' की अवधारणा को सभी प्रकार के पूर्वग्रहों और यांत्रिकताओं से मुक्त करने का रचनात्मक प्रयास करते दिखते हैं।

परिशिष्ट–क

आधार ग्रंथ (अमृत राय की कृतियाँ)

आलोचनात्मक ग्रन्थ :

- आधुनिक भावबोध की संज्ञा, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- नयी समीक्षा, संस्करण सन् 1982 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- प्रेमचंद की प्रासंगिकता, संस्करण सन् 1985 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- विचारधारा और साहित्य, संस्करण अगस्त 1984 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- सह–चिन्तन, संस्करण जुलाई 1978 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

कहानी–संग्रह :

- इतिहास, द्वितीय संस्करण, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- कठघरे, संस्करण सन् 1965 ई., सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद
- कस्बे का एक दिन, संस्करण सन् 1960 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- गीली मिट्टी, संस्करण सन् 1995 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- चित्र फलक, संस्करण सन् 1964 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- जीवन के पहलू, संस्करण सन् 1953 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- पति–पत्नी, संस्करण सन् 1995 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबा
- भोर के पहले, संस्करण सन् 1965 ई., सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद
- लाल धरती, संस्करण सन् 1992 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- विद्रोह, संस्करण अप्रैल 1992 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- सरगम, संस्करण अप्रैल 1982 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

उपन्यास :

- जंगल, संस्करण जुलाई 1985 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- धुआँ, सन् 1977 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- नागफनी का देश, सन् 1956 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- बीज, सन् 1953 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- भटियाली, संस्करण जून 1995 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- सुख–दुख, संस्करण जुलाई 1978 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- हाथी के दाँत, संस्करण अप्रैल 1997 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

जीवनी :

- कलम का सिपाही, प्रथम संस्करण, सन् 1962 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

अनूदित साहित्य :

- अग्निदीक्षा, सन् 1954 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- आदि विद्रोही, सन् 1955 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- खौफ की परछाइयाँ, सन् 1952 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- चतुरंग, संस्करण मार्च 1982 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- नूतन आलोक, सन् 1953 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- फाँसी के तख्ते में, संस्करण सन् 1952 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- शहीदनामा, सन् 1989 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- समरगाथा, सन् 1969 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- हैमलेट, सन् 1965 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

अन्य :

- प्रेमचंद स्मृति, संस्करण सन् 1993 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- विविध प्रसंग, भाग–2, सन् 1978 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

परिशिष्ट–ख

संदर्भ ग्रंथ

- आज का हिन्दी उपन्यास— प्रकाशचंद्र गुप्त, सन् 1966 ई., नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
- आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ. बच्चन सिंह, संस्करण सन् 1997 ई., लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ. नामवर सिंह, संस्करण सन् 1995 ई., लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य मे प्रगति चेतना—डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम, संस्करण सन् 1972 ई., कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली
- इतिहास क्या है?—ई.एच. कार (अनुवादक—अशोक चक्रधर)
- एक अंतरंग बातचीत अमृत से—गिरिजा कुमार माथुर, सन् 1994 ई., जिज्ञासा प्रकाशन, जबलपुर
- कृती साहित्यकार अमृत राय—सं. डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, अक्टूबर 1994 ई., जिज्ञासा प्रकाशन, जबलपुर
- निराला की साहित्य साधना, भाग–1— डॉ. रामविलास शर्मा, सन् 1969 ई., राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली
- प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य—रेखा अवस्थी, सन् 1978 ई., द मैकमिलन प्रकाशन कंपनी ऑफ इंडिया लि., दिल्ली
- प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन—हंसराज रहबर, सन् 1966 ई., नवयुग प्रकाशन, दिल्ली
- प्रगतिशील साहित्य के मानदंड—रांगेय राघव, सन् 1954 ई., सरस्वती पुस्तक मंदिर, आगरा
- प्रगतिवाद : एक समीक्षा— डॉ. धर्मवीर भारती, सन् 1949 ई., साहित्य भवन लि इलाहाबाद

- प्रगतिवाद— डॉ. शिवकुमार मिश्र, सन् 1966 ई., राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि. दिल्ली
- प्रेमचंद और उनका युग—डॉ. रामविलास शर्मा, सन् 1955 ई., राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली
- प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य, खंड–1—डॉ. कमल किशोर गोयनका, सन् 1988 ई., भारतीय ज्ञानपीठ,
- भारत : वर्तमान और भावी—रजनी पामदत्त, सन् 1956 ई., पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
- यह जो आईना है— मधुरेश, सन् 2000 ई., रामकृष्ण प्रकाशन
- रसवंती— रामधारी सिंह दिनकर, तीसरा संस्करण सन् 1946 ई., उदयाचल, पटना
- संकेत— सं. उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रथम संस्करण, नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग
- समाजवादी आंदोलन का इतिहास—राममनोहर लोहिया, सन् 1969 ई., हैदराबाद
- साहित्य का उद्देश्य— प्रेमचंद, सन् 1988 ई., हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- साहित्य की समस्याएँ— शिवदान सिंह चौहान, सन् 1959 ई., आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
- साहित्य–सहचर— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सन् 1965 ई., नैवेद्य निकेतन, वाराणसी
- हँसते–बोलते दस्तावेज— डॉ. राजेश दुबे, संस्करण अप्रैल 1994 ई., जिज्ञासा प्रकाशन, जबलपुर
- हिन्दी उपन्यास— शिवनारायण श्रीवास्तव, सन् 1997 ई., सरस्वती मंदिर, काशी
- हिन्दी साहित्य— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सन् 1952 ई., अत्तरचंद कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली
- हिन्दी उपन्यासो में मध्यवर्ग—डॉ. मंजूलता सिंह, सन् 1971 ई. आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली

- हिन्दी उपन्यास युगचेतना और पाठकीय संवेदना—मुकुन्द द्विवेदी, सन् 1970 ई., लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास—डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, संस्करण सन् 2001 ई., लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा— प्रकाशचंद्र गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
- हिन्दी साहित्यकारो के नाम पत्र— टर्नल लायल लेन, सन् 1972 ई., जूहू, बंबंई
- हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना—जनेश्वर वर्मा, सन् 1976 ई., ग्रंथम,कानपुर

परिशिष्ट–ग

पत्र–पत्रिकाएँ

- अब — अंक–21
- अभिप्राय — अंक–6, 24–25, 26
- आलोचना — जुलाई–1952, अप्रैल–जून–1970
- कल्पना — जून–1967
- जनवाणी — मार्च–1948
- नई कहानियाँ — नवम्बर–दिसंबर–1968, जनवरी–जुलाई–1969
- पहल — अंक–64–65 (मार्क्सवादी आलोचना विशेष)
- वर्तमान साहित्य — आलोचना के सौ बरस–1
- विशाल भारत — जुलाई–1936, मार्च–1937
- सम्मेलन पत्रिका — वि.सं.–2009
- हंस — मई–1936, प्रेमचंद स्मृति अंक, जनवरी–1948
- हिन्दुस्तानी — भाग–33: अंक–1, भाग–57 : अंक–3–4